नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५८ संवत् २०१० अंक ४

विषय	पृष्ठ
प्राचीन भाषा-काव्यों की विविध संज्ञाएँ—श्री अगरचंद नाहटा	... ४१७
संस्कृत साहित्य में व्याख्या की पद्धतियाँ—श्री रामशंकर भट्टाचार्य	... ४३७
अवहट्ठ और उसकी मुख्य विशेषताएँ—श्री शिवप्रसाद सिंह	... ४४९
प्राणिनामों का ऐतिहासिक महत्त्व—श्री देवीशंकर मिश्र, एम० ए०, एम० एस-सी०, साहित्यरत्न	... ४६९
विमर्श	
जायसी कृत महरीबाईसी या कहरनामा—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल	... ४७५
चयन	... ४७६
समीक्षा	... ४९१
विविध	... ५००
सभा के कार्याधिकारी और प्रबंध समिति के सदस्य ...	... ५०२

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) : इस अंक का २॥)

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।
२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।
३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।
४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

निवेदन

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण एवं सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना साधारणतः एक मास के भीतर दी जाती है।

(४) लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग वा उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

(५) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। सभी प्राप्त पुस्तकों की प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है, परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

संपादक

हजारीप्रसाद द्विवेदी : कृष्णानंद

सहायक संपादक

पुरुषोत्तम

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५८] संवत् २०१० [अंक ४

प्राचीन भाषा-काव्यों की विविध संज्ञाएँ

[श्री अगरचंद नाहटा]

उत्तर भारत की समस्त आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं का विकास अपभ्रंश भाषा से हुआ है। कुवलयमाला के उद्धरण के अनुसार नवीं शती में सोलह प्रांतीय भाषाएँ कुछ मौलिक विशेषताओं के साथ बोलचाल के रूप में प्रचलित थीं। पर आठवीं से बारहवीं शती तक के अपभ्रंश ग्रंथों से ज्ञात होता है कि साहित्य की भाषा सर्वत्र एक सी रूढ़ हो गई थी, उसके प्रांतीय रूपों में अंतर विशेष नहीं था। ग्यारहवीं शती के राजस्थानी भाषा के कुछ फुटकर पद्य जैन प्रबंध-ग्रंथों में मिलते है। मुंज से संबंधित पद्य इसी समय के हैं। प्रबंध-संग्रहों में मौखिक परंपरा के अनुसार उनका संग्रह किया गया प्रतीत होता है। आचार्य हेमचंद्र ने जो प्राचीन दोहे अपने ग्रंथ में संकलित किए हैं वे भी उनसे सौ-दोसौ वर्ष पुराने तो अवश्य होंगे। अतः उनका भी समय दसवीं-ग्यारहवीं शती माना जा सकता है। उन दोहों तथा अन्य प्राप्त पद्यों के द्वारा अपभ्रंश से प्राचीन राजस्थानी के विकास के सूत्र मिल जाते हैं।

तेरहवीं शती में लोकभाषा में काफी परिवर्तन हो चुका था, इसलिये जैन विद्वानों को अपभ्रंश के साथ-साथ तत्कालीन भाषा में साहित्य-निर्माण करना आवश्यक प्रतीत हुआ, क्योंकि अपभ्रंश उस समय सुबोध नहीं रह गई थी और जैन विद्वानों को जैन धर्म के उपदेशों का प्रचार ऐसी भाषा में ही करना था जिसे

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।
२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।
३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।
४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

निवेदन

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण एवं सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना साधारणतः एक मास के भीतर दी जाती है।

(४) लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग वा उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

(५) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। सभी प्राप्त पुस्तकों की प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है, परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

संपादक
हजारीप्रसाद द्विवेदी : कृष्णानंद
सहायक संपादक
पुरुषोत्तम

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५८] संवत् २०१० [अंक ४

प्राचीन भाषा-काव्यों की विविध संज्ञाएँ

[श्री अगरचंद नाहटा]

उत्तर भारत की समस्त आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं का विकास अपभ्रंश भाषा से हुआ है। कुवलयमाला के उद्धरण के अनुसार नवीं शती में सोलह प्रांतीय भाषाएँ कुछ मौलिक विशेषताओं के साथ बोलचाल के रूप में प्रचलित थीं। पर आठवीं से बारहवीं शती तक के अपभ्रंश ग्रंथों से ज्ञात होता है कि साहित्य की भाषा सर्वत्र एक सी रूढ़ हो गई थी, उसके प्रांतीय रूपों में अंतर विशेष नहीं था। ग्यारहवीं शती के राजस्थानी भाषा के कुछ फुटकर पद्य जैन प्रबंध-ग्रंथों में मिलते है। मुंज से संबंधित पद्य इसी समय के हैं। प्रबंध-संग्रहों में मौखिक परंपरा के अनुसार उनका संग्रह किया गया प्रतीत होता है। आचार्य हेमचंद्र ने जो प्राचीन दोहे अपने ग्रंथ में संकलित किए हैं वे भी उनसे सौ-दोसौ वर्ष पुराने तो अवश्य होंगे। अतः उनका भी समय दसवीं-ग्यारहवीं शती माना जा सकता है। उन दोहों तथा अन्य प्राप्त पद्यों के द्वारा अपभ्रंश से प्राचीन राजस्थानी के विकास के सूत्र मिल जाते हैं।

तेरहवीं शती में लोकभाषा में काफी परिवर्तन हो चुका था, इसलिये जैन विद्वानों को अपभ्रंश के साथ-साथ तत्कालीन भाषा में साहित्य-निर्माण करना आवश्यक प्रतीत हुआ, क्योंकि अपभ्रंश उस समय सुबोध नहीं रह गई थी और जैन विद्वानों को जैन धर्म के उपदेशों का प्रचार ऐसी भाषा में ही करना था जिसे

साधारण से साधारण व्यक्ति समझ सके। फलतः तेरहवीं शताब्दी से राजस्थानी की रचनाएँ हमें प्राप्त होने लगती हैं। ये रचनाएँ छोटी-छोटी हैं और संभवतः मंदिरों एवं उत्सवों में गीत एवं नृत्य के साथ प्रचारित करने के उद्देश्य से रची गई हैं। नृत्य और गीत के साथ लंबे काव्यों के अभिनय में सुविधा नहीं होती, अतः बड़े-बड़े काव्य संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश में ही रचे जाते रहे। 'रास'-संज्ञक रचनाएँ मूलतः नृत्य के साथ गाई जाती थीं। चौदहवीं शती तक वे लकुटी रास, तालक रास आदि के नृत्य एवं गीत के साथ प्रचारित होती रहीं, ऐसा ग्रंथकारों द्वारा रासों के अंत में किए गए निर्देश से स्पष्ट है। इस समय के बड़े-बड़े रास उपलब्ध नहीं हैं। पंद्रहवीं शती से अपेक्षाकृत बड़े रास रचे जाने लगे और क्रमशः उनका विस्तार बढ़ता गया। तब उनका उद्देश्य कथावस्तु का विस्तार से वर्णन करना हो गया और वे व्याख्यानों आदि में गा-गाकर लंबे समय तक सुनाए जाने लगे। आज भी जैन समाज में यह प्रथा प्रचलित है। कुछ वर्ष पूर्व तक श्वेतांबर जैन समाज में नियमित रूप से दोपहर एवं रात का व्याख्यान इन रासों को गाकर ही किया जाता रहा है। गाँवों में अब भी ऐसा प्रचार है, पर नगरों में कम होता जा रहा है। रासों के द्वारा व्याख्यान देनेवालों को लोग कम पढ़ा-लिखा समझने लगे, इसलिये व्याख्याताओं को अपनी विद्वत्ता का परिचय देने के लिये प्राकृत एवं संस्कृत काव्यादि ग्रंथों को अपने व्याख्यानों में अधिकता से अपनाना पड़ा, जिस प्रकार कि राजस्थान में जैन मुनियों को, जिनके व्याख्यान कुछ समय पहिले तक मारवाड़ी भाषा में हुआ करते थे, अब उसी कारण से मारवाड़ी का स्थान हिंदी को देना पड़ा है। फिर भी गाँवों में, जहाँ शिक्षित व्यक्ति कम हैं, जैन मुनियों के व्याख्यान मारवाड़ी में ही होते हैं और उनमें रास, ढालें आदि गाकर सुनाई जाती हैं। तेरहपंथी संप्रदाय में आज भी अधिकतर व्याख्यान मारवाड़ी में ही होते हैं और चातुर्मास्य में रात के समय नियमित रूप से मुनि केशराज रचित रामयशोरसायन रास की ढालें गाकर सुनाई जाती हैं। परंतु समय के प्रभाव से अब वहाँ हिंदी में भाषण देना प्रारंभ हो गया है, क्योंकि इसके बिना नवशिक्षितों का आकर्षण कम होता है और वक्ता भी शिक्षितों की कोटि में नहीं समझे जाते। स्थानकवासी संप्रदाय में रास अब भी रचे जाते हैं, पर उनकी भाषा राजस्थानी के बदले हिंदीप्रधान हो गई है। गुजरात में गुजराती के समृद्ध हो जाने के कारण आज भी रास गुजराती में ही रचे जाते हैं।

यहाँ भाषा-काव्यों का परिचय देने के पूर्व उनकी विविध संज्ञाओं की एक सूची प्रस्तुत की जाती है—

(१) रास; (२) संधि; (३) चौपाई; (४) फागु; (५) धमाल; (६) विवाहलो; (७) धवल; (८) मंगल; (९) वेलि; (१०) सलोका; (११) संवाद; (१२) वाद; (१३) झगड़ो; (१४) मातृका; (१५) बावनी; (१६) कक्क; (१७) बारहमासा; (१८) चौमासा; (१९) पवाड़ा; (२०) चर्चरी (चाँचरि); (२१) जन्माभिषेक (२२) कलश; (२३) तीर्थमाला, (२४) चैत्यपरिपाटी; (२५) संघ वर्णन; (२६) ढाल; (२७) ढालिया; (२८) चौढालिया; (२९) छढालिया; (३०) प्रबंध; (३१) चरित; (३२) संबंध; (३३) आख्यान; (३४) कथा; (३५) सतक; (३६) बहोत्तरी; (३७) छत्तीसी; (३८) सत्तरी; (३९) बत्तीसी; (४०) इकीसो; (४१) इकतीसो; (४२) चौबीसी; (४३) बीसी; (४४) अष्टक (४५) स्तुति; (४६) स्तवन; (४७) स्तोत्र; (४८) गीत; (४९) सज्झाय; (५०) चैत्यवंदन; (५१) देववंदन; (५२) वीनती; (५३) नमस्कार; (५४) प्रभाती; (५५) मंगल; (५६) साँझ; (५७) बधावा; (५८) गहूँली; (५९) हीयाली; (६०) गूढ़ा; (६१) गजल; (६२) लावणी; (६३) छंद; (६४) नीसाणी; (६५) नवरसो; (६६) प्रवहण; (६७) वाहण; (६८) पारणो; (६९) पट्टावली; (७०) गुर्वावली; (७१) हमचडी; (७२) हींच; (७३) माला-मालिका; (७४) नाममाला; (७५) रागमाला; (७६) कुलक; (७७) पूजा; (७८) गीता; (७९) पट्टाभिषेक; (८०) निर्वाण; (८१) संयमश्री विवाह वर्णन; (८२) भास; (८३) पद; (८४) मंजरी; (८५) रसावलो; (८६) रसायन; (८७) रसलहरी; (८८) चंद्रावला; (८९) दीपक (९०) प्रदीपिका; (९१) फुलड़ा; (९२ जोड़; (९३) परिक्रम; (९४) कल्पलता; (९५) लेख; (९६) विरह; (९७) मूँदड़ी; (९८) सत; (९९) प्रकाश; (१००) होरी; (१०१) तरंग; (१०२) तरंगिणी; (१०३) चौक; (१०४) हुंडी; (१०५) हरण; (१०६) विलास; (१०७) गरबा; (१०८) बोली; (१०९) अमृतध्वनि; (११०) हाल-रियो; (१११) रसोई; (११२) कड़ा; (११३) झूलणा; (११४) जकड़ी; (११५) दोहा, कुंडलिया, छप्पय आदि।

इन समस्त संज्ञाओं का विवरण देना इस लेख में संभव नहीं, अतः प्रधान संज्ञाओं का ही संक्षेप में स्पष्टीकरण किया जायगा।

(१) रास—राजस्थानी एवं गुजराती भाषा की बड़ी रचनाओं में सबसे अधिक रास-संज्ञक ही हैं। छोटी रचनाओं में सबसे अधिक गीत वा स्तवन हैं। रास-संज्ञक रचनाओं का निर्माण अपभ्रंश-काल से ही प्रारंभ हो जाता है। उपदेश-रसायन रास और संदेश रास अपभ्रंश की ही रचनाएँ हैं। इनमें से उपदेश-रसायन रास का नाम उसके रचयिता जिनदत्त सूरि ने केवल 'उपदेशरसायन' ही दिया है, परंतु उसके टीकाकार सूरि जी के प्रशिष्य के शिष्य जिनपाल उपाध्याय ने उसमें 'रासक' जोड़कर उसे 'उपदेशरसायन रास' संज्ञा दे दी है। यह ग्रंथ साधारण जैन जनता के लिये उपदेश के रूप में, विशेषतः उस समय प्रचलित अविधि को हटाने और विधि मार्ग का प्रचार करने के उद्देश्य से, पद्धटिकाबद्ध ८० गेय पद्यों में रचा गया है। टीकाकार के कथनानुसार यह सब रागों में गाया जा सकता है। इस ग्रंथ के छत्तीसवें पद्य में तालारासु और लडड़ारासु नामक दो प्रकार के रासों का उल्लेख किया गया है—

मूल—तालारासु वि दिंति रयणिहिं, दिवसि वि लडड़ारसु सहुँ पुरिसिहिं।

टीका—तालारासकमपि न ददति श्राद्धा रजन्यां प्रदीपोद्योतेऽपि तदानीमदृश्यसूक्ष्म-पिपीलिकादिध्वंसहेतुत्वात्। दिवसेऽपि लगुडरासं पुरुषैरप्यास्तां योषिद्भिः तस्यान्तविटचेष्टा-रूपत्वात् कदाचित् प्रमादवशान्मस्तकाद्याघातहेतुत्वात्।

आशय यह है कि उस समय जैन मंदिरों में श्रावक आदि लोग रात्रि के समय तालियों के साथ (ताल देकर) रासों को गाया करते थे, उसमें जीवहिंसा की संभावना के कारण रात्रि में तालारास का निषेध किया गया है।[1] इसी प्रकार दिन में पुरुषों के स्त्रियों के साथ लगुडारास करने (डंडियों के साथ नृत्य करते हुए रास गाने) को भी अनुचित बताया गया है। जैन मंदिरों में ये दोनों रास चौदहवीं शती तक खेले जाते थे, यह सं० १३२७ में रचित सप्तक्षेत्री रास से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है—

बइसइ सहूइ श्रमणसंघ सावय गुणवंता।
जोयइ इच्छवु जिनह भुवणि मनि हरख धरंता।

१—सं० १३०० के लगभग जिनेश्वर सूरि के श्रावक जगड्ड रचित सम्यकत्वमाई चउपई में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—तालारासु रयणि नहि देइ, लउड़ा रसु मूलह वारेइ ॥ २१ ॥ (प्रा० गु० काव्यसंग्रह, पृ० ८०)

तीछे तालारस पडइ बहु भाट पढंता।
अनइ लकुटारस जोईइ खेला नाचंता ॥४८॥
सविहू सरीखा सिणगार सवि तेवड तेवड़ा।
नाचइ धामीय रंभरे तउ भावहि रूडा।
सुललित वाणी मधुरि सादि जिणगुण गायंता।
ताल मानु छंद गीत मेलु वाजित्र वाजंता ॥४९॥

(प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह, सप्तक्षेत्रिरासु, पृष्ठ ५२)

रास-संज्ञक दूसरी अपभ्रंश रचना संदेशरासक है। इसके रचयिता कवि अब्दुल रहमान ने चौथे पद्य में इसका नाम 'संनेहय रासयं' और उन्नीसवें पद्य में 'संनेह रासउ' दिया है, जो दोनों ही 'संदेश रासक' के अपभ्रंश हैं। 'रासय' शब्द संस्कृत 'रासक' का अपभ्रंश है। उसका परवर्ती विकार य के स्थान में उ होकर 'रासउ' हो गया।

रासक का उल्लेख हर्षचरित (बाण भट्ट, सातवीं शताब्दी) में मिलता है। यह एक उपरूपक-विशेष है। वाग्भट्ट और हेमचंद्र ने काव्यानुशासन में रासक के संबंध में निम्नोक्त स्पष्टीकरण किया है—

डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-भाणिका-प्रेरण-शिंगक - रामाक्रीड़-हल्लीसक - श्रीगदित-रासक-गोष्ठी प्रभृतीनि गेयानि। (वाग्भट्ट)

गेयं डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-शिंगक-भाणिका-प्रेरण-रामाक्रीड-हल्लीसक - रासक - गोष्ठी-श्रीगदित-राग काव्यादि। (हेमचंद्र)

वाग्भट्ट के काव्यानुशासन की वृत्ति के अनुसार ये सब डोंबिकादि गेय रूपक हैं—

पदार्थाभिनयस्वभावानि डोम्बिकादीनि गेयानि रूपकाणि चिरन्तनैरुक्तानि।

इन्हीं में से रासक भी एक रूपक है जिसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आचतुःषष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥

अर्थात् रासक एक ऐसा कोमल और उद्धत गेय रूपक है जिसमें अनेक नर्तकियाँ होती हैं, अनेक प्रकार के ताल और लय होते हैं और ६४ तक के युगल होते हैं।

पीछे रास, रासु अथवा रासउ शब्द प्रधानतया कथाकाव्यों के लिये रूढ़-सा हो गया और रसप्रधान रचना रास मानी जाने लगी। 'रासा' एक छंद विशेष भी है। राजस्थानी में जो परवर्ती रासो मिलते हैं वे युद्ध-वर्णनात्मक काव्य के भी सूचक हैं। इसी कारण राजस्थानी में रासो शब्द का प्रयोग लड़ाई-झगड़े या गड़बड़-गोटाले के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है। परंतु प्राचीन जैन रचनाओं के नामों में तो रास शब्द का ही प्रयोग मिलता है, रासो का नहीं। कई पुरानी रचनाओं में 'रासु' भी मिलता है। सतरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं अठारहवीं शती की कुछ विनोदात्मक रचनाओं में 'रासो' और 'रासौ' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। उंदर रासो और मांकड रासो आदि ऐसे ही रास हैं।[2]

(२) संधि—अपभ्रंश काव्यों के सर्गों की संज्ञा 'संधि' है। आचार्य हेमचंद्र ने महाकाव्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—

पद्यं प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नवृत्तसर्गाश्वाससन्ध्यवस्कन्धकबन्धं सत्सन्धिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्।

अर्थात् महाकाव्य मुख-प्रतिमुखादि संधियों एवं शब्द-अर्थ की विचित्रता से युक्त होता है तथा संस्कृत महाकाव्य सर्गों में, प्राकृत आश्वासों में, अपभ्रंश संधियों में एवं ग्राम्य स्कंधों में निबद्ध होता है।

'संधि' शब्द मूलतः अपभ्रंश महाकाव्य के सर्गों के लिये ही प्रयुक्त होता था, किंतु तेरहवीं-चौदहवीं शती में वह एक सर्ग वाले खंड काव्यों के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। अपभ्रंश में जिनप्रभ सूरि आदि की संधि-संज्ञक पंद्रह रचनाएँ मिलती हैं। संधियों की परंपरा उन्नीसवीं शती तक निरंतर चलती रही। चौदहवीं शती के तो दो ही संधि-काव्य मिलते हैं, किंतु सोलहवीं से उन्नीसवीं तक राजस्थानी एवं गुजराती भाषा में वे पचासों की संख्या में प्राप्त हैं, जिनमें राजस्थानी अधिक हैं और उनमें भी खरतरगच्छीय विद्वानों के सबसे अधिक।[3]

(३) चौपाई—रास के बाद बड़ी रचनाओं में सबसे अधिक 'चौपाई' नामक रचनाएँ मिलती हैं। चौपाई या चौपई का संस्कृत रूप चतुष्पदी भी प्रयुक्त मिलता

२—विशेष द्रष्टव्य—'सम्मेलन-पत्रिका', वर्ष ३५ अंक ७ में प्रकाशित लेखक का 'रासो शब्द की व्युत्पत्ति और प्रयोग' लेख।

३—विशेष द्रष्टव्य—'राजस्थानी', भाग १ (राजस्थानी साहित्य परिषद्, कलकत्ता से प्रकाशित) में लेखक का 'अपभ्रंश भाषा के संधि-काव्य और उनकी परंपरा' शीर्षक लेख।

है। मूलतः यह चौपाई छंदों में लिखी रचनाओं का नाम था, पर पीछे 'रासो' की भाँति चरितकाव्य के लिये रूढ़ हो गया; यहाँ तक कि कहीं-कहीं एक ही रचना की संज्ञा किसी ने चौपाई लिख दी तो दूसरे ने रास। चौपाई छंद तो अपभ्रंश काव्यों में भी प्रयुक्त हुआ है, पर उन ग्रंथों का नाम चौपाई नहीं रखा गया।

चौदहवीं शती से राजस्थानी रचनाओं के नामों में इस संज्ञा का प्रयोग मिलने लगता है। नेमिनाथ चतुष्पदिका, सम्यकत्वमाई चौपाई—ये दो सोलहवीं शती की रचनाएँ प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह में प्रकाशित हैं। इनमें से दूसरी रचना में लिखा है—'हासामिसि चउपईबंधु कियउ'।

(४-५) फागु-धमाल—वसंत ऋतु का प्रधान उत्सव फाल्गुन महीने में होता है। उस समय नर-नारी मिलकर एक दूसरे पर अबीर आदि डालते और जल की पिचकारियों से क्रीड़ा करते अर्थात् फाग खेलते हैं। जिनमें वसंत ऋतु के उल्लास का कुछ वर्णन हो या जो वसंत ऋतु में गाई जाती हों ऐसी रचनाओं को 'फागु' संज्ञा दी गई है। इन रचनाओं की यह विशेषता है कि इनमें शब्दालंकार के साथ यमकबंध अनुप्रास पाया जाता है। इस शैली को 'फागुबंधी' कहा गया है। कुछ पद्य उदाहरणार्थ उद्धृत किए जाते हैं—

अणहिलवाडउं पाटण; पाटण नयर जे राउ।
दीसइ जिहां श्रीअ जिणहर, मणहर संपद ठाउ ॥ ८

(जै० ऐ० गु० काव्यसंचय, 'देवरत्नसूरि फाग', पृ० १५१)

पहिलूं सरसति अरचीसूं, रचीसूं वसंत विलास।
वीण धरइ करि दाहिण, वाहण हंसलु जास ॥ १
पहुतीय तिहुणी हिव रति, वरति पहुती वसंत;
दह दिसि परसइ परिमल, निरमल थ्या नभ अंत ॥ २

(प्रा० गु० काव्य, 'वसंत विलास', पृ० १५)

समरवि त्रिभुवनसामणि, कामणि सिरि सिणगारु।
कवियण वयणि जा' वरसइ, सरसइ अमिउ अपारु ॥१॥

(जीरापल्ली पार्श्वनाथ फागु, पृ० ६७)

यह शैली फागु-संबंधी सभी रचनाओं में नहीं अपनाई गई है। स्थूलभद्र फाग और पिछले अन्य फागों में भी यह नहीं है।

फागु और धमाल दोनों ही एक प्रसंग से संबंधित हैं, अतः कई रचनाओं की संज्ञा किसी ने फागु दी है तो किसी ने धमाल। फागु और धमाल के छंद एवं रागिनी में अंतर होगा, पर पीछे से ये दोनों नाम होली के आसपास गाई जानेवाली रचनाओं के लिये प्रयुक्त होने लगे। प्राचीन दिगंबर रचनाओं में 'धमाल' का प्राकृत रूप 'ढमाल' भी मिलता है। इधर लगभग डेढ़ सौ वर्षों से छोटे-छोटे भजन डफ और चंगों पर गाए जाने लगे हैं, उनकी संज्ञा 'होरी' भी पाई जाती है। फागु एवं धमाल-संज्ञक रचनाएँ इनसे काफी बड़ी होती थीं। बहुत से व्यक्ति मिलकर चंग, ढोल, डफ और झाँझ आदि वाद्यों के साथ उन्हें गाते थे, तब एक कोलाहल सा मच जाता था, इससे बोलचाल में 'धमाल' का प्रयोग 'कोलाहल' वा 'उपद्रव' के अर्थ में भी होता है।

फागु-संज्ञक रचनाएँ धमाल से अधिक प्राचीन और अधिक संख्या में मिलती हैं। सं० १३५० के आसपास से ऐसी रचनाओं का प्रारंभ होता है। उपलब्ध फागु-काव्यों में खरतरगच्छीय जिनप्रबोध सूरि का जिनचंद सूरि फागु सर्वप्रथम और सबसे प्राचीन है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ के खरतरगच्छीय यति राजहर्ष द्वारा रचित 'नेमिफाग' अंतिम कृति है। राजस्थानी एव गुजराती में फागु-संज्ञक लगभग ५० रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, जिनका परिचय 'जैन सत्यप्रकाश' (वर्ष ११, १२ एवं १४) में प्रकाशित है। धमाल-संज्ञक रचनाएँ ८-१० ही प्राप्त हैं और वे सतरहवीं शताब्दी की ही अधिक हैं।

(६-८) विवाहलो, धवल, मंगल--जिस रचना में विवाह का वर्णन हो उसे 'विवाहला' कहते हैं। जैन कवियों ने नेमिनाथ आदि तीर्थंकरों और जैनाचार्यों के 'संयमश्री' के साथ विवाह के प्रसंग को लेकर बहुत से विवाहले रचे हैं। आचार्यों के लौकिक विवाह का तो कोई प्रसंग था नहीं; क्योंकि वे ब्रह्मचारी ही रहते थे; अतः उनके द्वारा ग्रहण किए गए व्रतों को ही संयमश्री रूपी कन्या मान उसी के साथ उनके विवाह का वर्णन इन काव्यों में रूपक के रूप में दिया गया है। उदाहरणार्थ, कवि सोममूर्ति द्वारा सं० १३३१ में रचित 'जिनेश्वरसूरि-संयमश्री विवाह-वर्णन रास' में जिनेश्वरसूरि, जिनका बाल्यावस्था का नाम अंबड़कुमार था, जब दीक्षा लेने की तैयारी करते हैं तो पहले अपनी माता से दीक्षा की अनुमति माँगते हुए कहते हैं—

इहु संसारु दुहह भंडारु, ता हउं मेल्हिसु अतिहि असारु ॥ ६ ॥
परिणिसु संजमसिरि वरनारी, माइ माइए मज्झु मणह पियारी ।

इसके पश्चात् जब वे दीक्षा ग्रहण करने के लिये गुरुश्री के पास जाते हैं उस समय यान ले जाने, बाजे बजने, जीमनवार (भोज) होने, चँवरी (मंडप) मँडने, और अग्नि-साक्षी से संयमश्री का पाणिग्रहण करने का वर्णन बहुत ही सुंदर रूपकों के साथ किया गया है। यहाँ कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

अभिनव ए चालिय जानउत्र, अंबड़ु तणइ विवाहि ।
अप्पुणु ए धम्म चक्कवइ, हूयउ जानह माहि ॥ १६ ॥
कारइ कारइ 'नेमिचंदु', भंडारिउ उच्छाहु ।
वाधइ वाधइ जान देखि, लखमिणि हरखु अबाहु ॥ १९ ॥
कुसलिहि खेमिहि जानउत्र, पहुतिय खेड मज्झारि ।
उच्छवु हूयउ अइ पवरो, नाचइ फरफर नारि ॥ २० ॥
जिणवइ सूरिण मुणि पवरो, देसण अमिय रसेण ।
कारिय जीमणवार तहि, जानह हरिस भरेण ॥ २१ ॥
संति जिणेसर नर भुयणि, मांडिउ नंदि सुवेहि ।
वरसिहि भविय दाण जलि, जिम गयणंगणि मेह ॥ २२ ॥
तहि अगयारिय नीपजइ, झाणानलि पजलंति ।
तउ संवेगहि निम्मियउ, हथलेवउ सुमुहुत्ति ॥ २३ ॥
इणि परि 'अंबड़ु' वर कुयरु, परिणइ संजम नारि ।
बाजइ नंदीयतूर घण, गूडिय घर घर बारि ॥ २४ ॥

उपाध्याय मेरुनंदन के जिनोदयसूरि-विवाहला में भी ऐसा ही सुंदर वर्णन है। उसमें विवाह करानेवाले जोशी का स्थान गुरुश्री को दिया गया है। ये दोनों काव्य हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह' में प्रकाशित हो चुके हैं।

विवाहला-संज्ञक उपलब्ध रचनाओं में सबसे प्राचीन जिनप्रभसूरि रचित अंतरंग-विवाह अपभ्रंश भाषा में उपलब्ध है। यह भी आध्यात्मिक विवाह है। आदि-अंत की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

प्रारंभ—पमाय गुणठाणु पाटणु तहिं अहे भवियजिउ निरुवमु वरु ए ।
चहुविह संघु जानउत्र कीय अहे वाहण सहस सीलंग ॥१॥

अंत — इणिपरि परिणए जो अ जगि अहे लहइ सो सिद्धिपुरि वासु।
मंगलिकु वीर जिणप्रभ ए अहे मंगलिकु चहुवीह संघ ए ॥
(अंतरंग विवाह धवल वसंतरागेण भणनीय)

इसको रचना सं० १३०० के आसपास की है और इसके बाद ही जिनेश्वर-सूरि-संयमश्री रास का स्थान है। इस प्रकार चौदहवीं शताब्दी से ऐसे काव्यों का निर्माण होने लगता है और बीसवीं शताब्दी तक क्रम जारी रहता है। ऐसी लगभग ४ रचनाओं का अभी तक पता चला है।

विवाह में गाए जानेवाले गीतों को 'धवल' वा 'मंगल' कहा जाता है और विवाह स्वयं एक मांगलिक कार्य माना जाता है, अतः कई रचनाओं में विवाह के साथ 'धवल' शब्द भी नामांत पद के रूप में व्यवहृत है, जैसा कि ऊपर 'अंतरंग विवाह' के साथ यह जुड़ा हुआ मिलता है। धवल-संज्ञक रचनाओं का प्रारंभ तेरहवीं शताब्दी से होता है। 'जिनपति सूरि धवल गीत' उपलब्ध रचनाओं में सबसे प्राचीन है, जो हमारे 'ऐतिहासिक जैन-काव्य-संग्रह' में प्रकाशित है। ऋषभदेव-विवाहले की संज्ञा 'धवलबंध' दी गई है। नेमिनाथ धवल, वासपूज्य धवल, आदि कुछ रचनाएँ 'धवल'-संज्ञक प्राप्त हैं। हिंदी, राजस्थानी और बँगला में जो 'मंगल' संज्ञा वाले काव्य मिलते हैं, वे इसी परंपरा की देन हैं। राजस्थानी का प्राचीन काव्य 'रुकमणी मंगल' बहुत प्रसिद्ध लोककाव्य है। पर इसका नामांत पद 'मंगल' आधुनिक है। मूलतः लेखक ने इसकी संज्ञा 'विवाहलो' ही दी है। इसकी सबसे प्राचीन प्रति सं० १६६९ की प्रस्तुत लेखक के संग्रह में है और दो प्रतियाँ उसे बीसवीं शती की प्राप्त हुई हैं। इसका मूल रूप बहुत छोटा था, परंतु समय-समय पर इसमें लोक-प्रियता के कारण परिवर्त्तन-परिवर्धन होते रहे। प्रकाशित संस्करण हमारी प्रति से कोई पंद्रह-बीसगुना बढ़ गया है।[४]

(६) वेलि—राजस्थानी साहित्य में 'क्रिसन-रुकमणी री वेलि' बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है। इस संज्ञा का स्पष्टीकरण करते हुए 'वेलि' अर्थात् लता का सुंदर रूपक निम्नोक्त दो पद्यों में दिया गया है—

४—विवाहलों के संबंध में 'जैन सत्यप्रकाश', वर्ष ११-१२-१३ तथा १४ में प्रस्तुत लेखक एवं प्रो० कापड़िया के लेख द्रष्टव्य हैं। अहमदाबाद प्राच्यविद्या परिषद् में भी लेखक का एतद्विषयक विस्तृत लेख पढ़ा गया था।

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ, महिथाणौ प्रिथुदास मुख।
मूळ ताल जड़ अरथ मंडहे, सुथिर करणि चढ़ि छाँह सुख॥ २९१
पत्र अक्खर दल द्वाला जस परिमल नवरस तंतु त्रिधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सुभगति मंजरी मुगति फूल फल भुगति मिसि। २९२॥

इस संज्ञावाली पचास रचनाओं का मुझे पता लग चुका है, जिनमें पंद्रह राजस्थानी तथा दो गुजराती जैनेतर रचनाएँ (सीतावेलि और व्रजवेल) हैं। हिंदी में भी 'मनोरथ वल्लरी' तुलसीदास और भगवानदास रचित ज्ञात हुई है। २१ रचनाएँ जैन विद्वानों द्वारा रचित हैं, जिनमें वाच्छा श्रावक की 'चहुंगति वेलि' सबसे प्राचीन है। इसका समय सं० १५२८ के लगभग है। इसी शताब्दी में सीहा, लावण्यसमय और सहजसुंदर ने भी वेलियाँ बनाईं। सतरहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक यह क्रम जारी रहा। सं० १८८९ के बाद इस संज्ञावाली कोई रचना उपलब्ध नहीं है।[५]

(१०) सलोका—मूलतः संस्कृत 'श्लोक' शब्द से जनभाषा में सलोका या सिलोका शब्द प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। मध्यकाल में वर जब विवाह के लिये ससुराल जाता तो उसकी बुद्धि की परीक्षा के लिये पहले वर का साला कुछ श्लोक कहता और फिर उसकी प्रतिस्पर्धा में वर श्लोकों द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय देता था। पंद्रहवीं शती के लगभग की एक रचना हमारे निजी संग्रह में है जिसमें वर ने साले को संबोधन करते हुए अपने आराध्य देव, गुरु, कुलदेवी, गोत्र, मातापिता, नगर, उसके शासक, तुरंग, तोरण आदि के वर्णनात्मक श्लोक कहे हैं। लोकभाषा में उनकी व्याख्या भी है। इसके अंत में वरदान एवं सुखप्राप्ति के लिये गणेश और सरस्वती की प्रार्थना की गई है। उदाहरण के लिये विवाह-मंडप, कन्या की प्राप्ति आदि के श्लोक कहकर साले का कुतूहल पूर्ण करने की सूचना वाले तीन पद्य यहाँ दिए जाते हैं—

मध्यनिर्मितमनोहरवेदिः प्रेक्षणादिककुतूहलपूर्णः।
गीतलीनतरुणीगणरम्यः स्वर्गखण्ड इव मंडप एषः॥ ८॥

अहो शालक ! जेहनइ मध्यि चहूं दिसि नूतन वेहि जवारा करिउ मंडित। लक्ष्मी करिउ अखंडित, चउरी चतुर चित्तु चोरइ। प्रेक्ष्यणीय प्रमुख कुतुहल संकुल। धवल-मंगल-

५—उपलब्ध रचनाओं के संबंध में श्री कापड़िया का लेख 'जैन-धर्म-प्रकाश', वर्ष ६५ अंक २ में प्रकाशित है।

गीतगान-तत्पर-सुंदर-सुंदरी-जन-मनोहरु । विचित्र पवित्र चंद्रोदय सहितु स्वर्गखण्ड-बिजित्वरु मंडपु सोभइ ॥ ८ ॥

तप्तं तपः साधुजनाय दत्तं दानं स्मृता पंचनमस्क्रिया च ।
सतीर्थयात्रा विहिता च तेन पुण्येन लब्धा भवतः स्वसेयं ॥१६॥

अहो शालक ! मइ पूर्विलइ भवि निर्मलु बार भेदु तपु कीधउ । चारि त्रिया तपोधन किही भावना पूर्वकु दानु दीधउ । अनइ जिनशासन सारु, पंच परमेष्ठि नमस्कारु स्मरयउं । श्री शत्रुंजय गिरिनार सरीखइ तीर्थि जाइउ । श्री वीतराग पूज्या । तीणि पुण्य करिउ मइ ताहरी बहिण लाधी ॥ १६ ॥

नालिकेरशतमेकमानय तत्र पूगशतपंच तथैव ।
शालक प्रचुरकाव्यसंचयैः पूरयामि तव कौतुकं यथा ॥१७॥

अहो शालक ! जइ किमइ मुझरहइं नालिकेर नउ सतु । अनइ फोफल ना पांच सय । ढोयणि करइ एक मडि दियइ । तउ हउ सर्वलोक समक्षु अनेकि सलोकि करिउ आपग । शालक नउ कुतूहलु पूरवउं ॥ १७ ॥

विवाह के समय साले और वर के द्वारा सिलोक कहने की प्रथा प्राचीन है। विमल मंत्री के विवाह के प्रसंग में कवि लावण्यसमय ने विमलप्रबंध में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

पुहता तोरणि जोइ लोक, सीख्या साला कहि शलोक ।
विम वांणि श्रवणे सांभली, ग्या साला ते दह दिशि टली ॥६४॥

खरतरगच्छ के शांतिसागर सूरि और जिनसमुद्र सूरि के प्रवेशोत्सव आदि के वर्णनवाली दो रचनाएँ 'राजस्थानी', भाग २ में प्रकाशित हो चुकी हैं। वे भी "अहो शालक" संबोधन के साथ हैं, अतः वे भी उपर्युक्त विवाह-प्रसंग में वर के द्वारा कही जाने के लिये ही बनाई गई प्रतीत होती हैं।

आगे चलकर उक्त प्रथा एवं तद्विषयक रचना के प्रकार में अंतर आ गया। गुजरात के उत्तरी भाग और राजस्थान में विवाह-प्रसंग में सिलोके कहे जाते हैं जिन्हें बरातियों में से जानकार लोग मंदिर में देवी-देवताओं एवं वीरों के गुणों का वर्णन करते हुए विशेष ढंग के साथ कहकर सुनाते हैं। इन सबकी शैली रूढ़ हो गई है। राजस्थानी भाषा के छंद-ग्रंथ 'रघुनाथरूपक' में वचनिका का दूसरा भेद 'सिलोको' बतलाते हुए जो उदाहरण दिया है, वह नीचे दिया जाता है। उपलब्ध सलोकों में यही शैली प्रयुक्त मिलती है—

दूजो भेद इणनूं लोकोकत सिलोको ही कहै छै ।

बोलै सीतांपत इसड़ीजी बांणी, सुरनर नागां नै लागै सुहांणी ।
सेसाजल हणमंत जिमही सरसाई, वीरां अवरांरी कीधी वडाई ॥
धनुधररा वायक सांभल जोधारा, पोरस अंगां में वधियो अणपारा ।
पुणनै कर जोड़ जीतव फल पायो, मानैं श्रीखांवद इतरो फुरमायो ॥

इस शैली के जैन-जैनेतर पचासों राजस्थानी-गुजराती सिलोके प्राप्त हैं, जिनमें बीसों छप भी चुके हैं। अठारहवीं शती से इनका रचनाक्रम चलता है और उन्नीसवीं के भी काफी सिलोके मिलते हैं। बीसवीं शती में यह प्रथा कमजोर होने लगती है। अब नगरों में सिलोका कहने की प्रथा का अंत हो गया है, परंतु गाँवों में यह अभी तक प्रचलित है।

(११-१३) संवाद–वाद-झगडो—कवि-हृदय विलक्षण होता है। वह अपनी कल्पना द्वारा, जिन वस्तुओं में वास्तव में कोई विवाद नहीं उनमें भी विरोधी भावना उत्पन्न करके उनके मुँह से अपने गुण और महत्त्व का और दूसरे की हीनता का वर्णन कराता है। उन दोनों के प्रसंग से कवि की प्रतिभा का सुंदर परिचय प्रस्तुत हो जाता है। ऐसी रचनाओं की संज्ञा 'संवाद', 'वाद' अथवा 'झगड़ो' रखी गई है। संस्कृत के 'संवादसुंदर' ग्रंथ में भी ऐसे नौ संवाद संकलित हैं। राजस्थानी एवं गुजराती में ऐसी लगभग तीस रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जो चौदहवीं शती से उन्नीसवीं तक की हैं। जैनेतर संवादात्मक रचनाओं में बीकानेर के महाराजा रायसिंह के आश्रित कवि बारहठ शंकर का 'दातार सूर दो संवाद' प्राप्त है। हिंदी भाषा में भी नरहरि आदि कवियों द्वारा कई संवादात्मक रचनाएँ लिखी गई हैं।

(१४-१६) मातृका-बावनी कक्क— इनमें वर्णमाला के अक्षर ५२ मानते हुए प्रत्येक वर्ण से प्रारंभ करके प्रासंगिक पद्य रचे जाते हैं। ऐसी रचनाओं की संज्ञा 'बावनी' है। अपभ्रंश से ऐसी रचनाओं का प्रारंभ होता है। इसकी अन्य संज्ञा 'कक्क' है। हिंदी में इसे 'अखरावट' भी कहते हैं। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी की ऐसी चार रचनाएँ—शालिभद्र कक्क, दूहा मात्रिका, सम्यकत्वमाई चौपाई, मात्रिका चौपाई—प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह में प्रकाशित हैं। ये बावनी के पूर्व रूप हैं। सोलहवीं शताब्दी से ऐसी रचनाओं का नाम 'बावनी' व्यवहृत हुआ है, यद्यपि आदि-अंत में कुछ अन्य पद्य जोड़ने से पद्यों की संख्या ५५, ५७, या ६० तक पहुँच गई हैं। कुछ

रचनाएँ मातृकाक्षरों के क्रम पर नहीं रची गईं, पर उनकी पद्य-संख्या ५२ से कुछ ही अधिक होने पर उनको भी 'बावनी' कहा गया है। हिंदी, राजस्थानी, गुजराती तीनों भाषाओं में जैन कवियों द्वारा रचित पचास के लगभग बावनियाँ हैं। भिन्न-भिन्न छंदों में रची होने से इनके नाम दूहाबावनी, सवैयाबावनी, कवित्तबावनी, कुंडलिया-बावनी आदि रखे गए हैं और कुछ के नाम विषय के अनुसार धर्मबावनी गुणबावनी इत्यादि मिलते हैं। टीकमगढ़ से प्रकाशित 'मधुकर' पत्र में कई वर्ष पूर्व 'बावनी-संज्ञक हिंदी रचनाएँ' शीर्षक लेख प्रकाशित हो चुका है। हिंदी भाषा की कतिपय बावनियों, बारहखड़ियों, बत्तीसियों आदि का विवरण लेखक द्वारा संपादित 'राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज', भाग ४ में दिया गया है जो अभी छप रहा है। इनमें वर्णमाला के अक्षरों का क्रम इस प्रकार रखा गया मिलता है— ओं (न मो सि द्धं) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष।

(१७-१८) बारहमासा चौमासा— बारह महीनों के ऋतु-परिवर्तन, एवं विरह-भाव को व्यक्त करनेवाली रचनाओं का नाम 'बारहमासा' है। जैन और जैनेतर दोनों प्रकार के बारहमासे सैकड़ों की संख्या में मिलते हैं। साधारणतया एक-एक महीने का वर्णन एक-एक पद्य में होने से १५-२० पद्यों में ये रचे जाते हैं। पर कई बारहमासे बहुत बड़े बड़े भी हैं, जिनकी पद्य-संख्या ४९-५० से लेकर १०० से ऊपर तक पहुँच गई है। प्रकृति-वर्णन संबंधी रचनाओं में इन बारहमासों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपलब्ध बारहमासों में सबसे प्राचीन 'जिनधर्मसूरि बारह नांवउ' है, जिसकी पद्य-संख्या ५० है। यह तेरहवीं शताब्दी की रचना है और पाटन की तालपत्रीय प्रति में उपलब्ध है। नमूने के लिये कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

तिहुयण मणि चूड़ामणिहिं, बारहनावउं धमुसुरि नाहह।
निसुणेहु सुयणहु ! नाण सणाहह पहिलउं सावण सिरि फुरिय ॥ १ ॥
कुवलय दल सामल धणु गज्जइ नं मद्दलु मंडल ज्झुणि छज्जइ।
विज्जुलड़ी झबकिहिं लवइ मणहरु वित्थारेवि कला सु।
अन्नु करेविणु कलि केका रवु फिरि फिरि नाचहि मोरला।
मेहणि हार हरिय रुमिणवर त्रीजण भयउ हिय नीलंबर
वियलिय नव मालइ कलिय ॥२॥

बारहमासे नेमिनाथ और स्थूलिभद्र संबंधी अधिक मिलते हैं। इसी प्रकार चार मास का वर्णन करनेवाले 'चौमासे' भी प्राप्त हैं।

(१६) पवाड़ा—किसी व्यक्ति के विशिष्ट कार्यों का वर्णन करनेवाली रचनाओं को 'पवाड़ा' कहते हैं। पंद्रहवीं शती में हीरानंद सूरि रचित 'विद्याविलास पवाड़ो' मिलता है। कुछ अन्य जैन पवाड़े भी प्राप्त हैं पर उनकी संख्या अधिक नहीं। सांइयाझूला के 'नागदमण' ग्रंथ में 'पवाड़ा पनगां तणउ' शब्द मिलता है। बाद में महाराष्ट्र में पवाड़ों की परंपरा बहुत जोरों से प्रचलित हुई, पर यह शब्द वीर-काव्य के लिये रूढ़ हो गया।[६]

राजस्थानी भाषा में 'पाबू जी के पवाड़े' बहुत प्रसिद्ध हैं। ये पवाड़े करुण एवं वीर रस से सराबोर हैं। इनमें से 'सोढी जी रो पवाड़ो' 'राजस्थानी-भारती,' वर्ष ३ अंक २ में प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार कई अन्य पवाड़े भी राजस्थानी में प्रसिद्ध हैं। ये पवाड़े 'पड़' (= घटनाओं का दिग्दर्शन कराने वाला चित्रपट) को दिखाते हुए गाए जाते हैं।

(२०) चर्चरी—रास की भाँति ताल एवं नृत्य के साथ, विशेषतः उत्सव आदि में, गाई जानेवाली रचना को 'चर्चरी' संज्ञा दी गई है। विक्रमोर्वशीय के चतुर्थांक में अपभ्रंश भाषा के कई चर्चरी पद्य पाए जाते हैं, इससे इस संज्ञा की प्राचीनता का पता चलता है। प्राकृत-पिंगल में चर्चरी नामक छंद भी बतलाया गया है। 'चर्चरी' और 'चाचरी' इसके नामांतर हैं। जायसी में भी फागुन और होली के प्रसंग में चाचरि या चाँचर का उल्लेख है। जिनदत्त सूरि जी ने जिनवल्लभ सूरि जी की स्तुति में ४७ पद्यों की चर्चरी नामक रचना अपभ्रंश में रची है, जो अपभ्रंश 'काव्यत्रयी' में प्रकाशित है। इसके पश्चात् जिनप्रभ सूरि, सोलण, जिनेश्वर सूरि और एक अज्ञात कर्ता की, ये चार चर्चरियाँ चौदहवीं शती में रची गईं। इनमें से सोलण वाली ३८ पद्यों की रचना प्रा० गु० काव्यसंग्रह में प्रकाशित है।[७]

(२१-२२) जन्माभिषेक, कलश—तीर्थंकरों के जन्म के अवसर पर उन्हें

६—इस संबंध में विशेष जानकारी के लिये 'कल्पना', वर्ष १ अंक ५ में प्रकाशित लेखक का 'पवाड़ों की प्राचीन परंपरा' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है।

७—विशेष द्रष्टव्य—अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृष्ठ ११४-१५ एवं 'जैन सत्यप्रकाश' वर्ष १२ अंक ६ में प्रकाशित श्री हीरालाल कापड़िया का 'चर्चरी' शीर्षक लेख।

इंद्रादि देव मेरुशिखर पर ले जाकर स्नातक करते हैं, उस समय के भाव को प्रकाशित करनेवाली रचना को 'जन्माभिषेक' वा 'कलश' संज्ञा दी गई है। तीर्थंकर की प्रतिमा को कलश से स्नान कराते समय ये रचनाएँ बोली जाती हैं। ऐसी लगभग १५ रचनाएँ चौदहवीं से सोलहवीं शती तक की उपलब्ध हैं। अब उनका स्थान पीछे की बनी हुई 'स्नात्रपूजा' ने ले लिया है, अतः इसका प्रचार नहीं रहा। इस विषय पर 'जैन सत्यप्रकाश', वर्ष १४ अंक ४ में प्रो० हीरालाल कापड़िया का 'जम्माभिसेय ने महावीर कलस' लेख प्रकाशित है।

(२३-२५) तीर्थमाला, चैत्य-परिपाटी एवं संघवर्णन—जिस रचना में जैन तीर्थों की नामावली हो उसे 'तीर्थमाला', जिसमें एक ही स्थान वा अनेक स्थानों के जैन मंदिरों की यात्रा का अनुक्रम से वर्णन हो उसे 'चैत्य-परिपाटी' वा 'परिवाड़ी', तथा जिसमें साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका चतुर्विध संघ के साथ की गई तीर्थयात्रा का वर्णन हो उसे 'संघवर्णन' संज्ञा दी गई है। तीर्थमाला तो प्राचीन भी मिलती हैं, पर चैत्य-परिपाटी चौदहवीं शताब्दी से ही प्राप्त है। संघवर्णन सतरहवीं शताब्दी से अधिक प्राप्त होता है। अनेक स्थानों की ऐतिहासिक सामग्री ऐसी रचनाओं में संकलित है। कई तीर्थमालाएँ बहुत विस्तार से लिखी गई हैं और उनमें भारत के प्रायः सभी जैन तीर्थों के वर्णन हैं। तीर्थयात्रा-वर्णनात्मक स्तवन भी छोटे-बड़े अनेक मिलते हैं। प्राचीन तीर्थों का संग्रह 'तीर्थमाला-संग्रह', 'पाटण चैत्य परिपाटी' एवं ऐसी अन्य बहुत-सी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। अप्रकाशित रचनाएँ हमने संगृहीत कर ली हैं, वे यथासमय प्रकाशित की जायँगी।

(२६-२९) ढाल, ढालिया, चौढालिया, छढालिया आदि—

इस रचना के गाने के तर्ज या देशी की संज्ञा 'ढाल' है। सतरहवीं शती में जब रास, चौपाई आदि की रचना लोकगीतों की देशियों में होने लगी तब इनकी संज्ञा ढालबद्ध हो गई। बड़े-बड़े रासों में शताधिक ढालें पाई जाती हैं। चार या छः ढालोंवाली छोटी रचनाओं को संख्या के अनुसार चौढालिया या छढालिया कहा गया है। अनेक प्रकार की देशियों वा तर्जों में रचे होने के कारण गुणसागर सूरि के 'हरिवंश रास' को 'ढालसागर' भी कहा गया है। तेरहवीं से पंद्रहवीं तक की रचनाएँ चौपाई, रासा, भास, वस्तु, ठवणी आदि छंदों में बनाई जाती थीं। प्राचीन रचनाओं में एक छंद के पूरे हो जाने पर एक 'कड़वक' का पूरा होना माना जाता था। इसी तरह जब ढालों का प्रचार हुआ तो एक ढाल के अंत में

दोहा या छंद देकर उसे पूरा किया जाता था। ढालों में रची जाने के कारण रचना को 'ढालिया' संज्ञा भी दी गई है।

ढालों को किस देशी के तर्ज पर गाना चाहिए, इसका निर्देश उन ढालों के प्रारंभ में उस देशी की प्रारंभिक पंक्ति उद्धृत करके किया गया है। देशियों की प्रथम पंक्तियों के इन उद्धरणों से सहस्रों प्राचीन लोकगीतों के अस्तित्व का पता चलता है। श्री देसाई ने बहुत-सी देशियों का संग्रह 'जैन गुर्जर कविओ' के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित किया था। पर अभी इस दिशा में बहुत कार्य शेष है।

(३०-३४) **प्रबंध, चरित्र, संबंध, आख्यानक, कथा**—चरित्र, आख्यानक और कथा प्रायः एकार्थवाची हैं। जो ग्रंथ जिसके संबंध में लिखा गया है उसे कहीं-कहीं उसके नाम से उसका 'संबंध' या 'प्रबंध' कहा गया है।

(३५-४४) सतक, बहोत्तरी, सत्तरी, छत्तीसी, बत्तीसी, **इक्कीसो, इकतीसी, चौबीसी, बीसी, अष्टक आदि**--

ये सब नाम रचनाओं के पद्यों की संख्या के सूचक हैं। इनमें से कई बत्तीसियाँ बावनी की भाँति वर्णमाला के बत्तीस अक्षरों से प्रारंभ होनेवाले पद्यों की भी हैं। चौबीसी और बीसी चौबीस तीर्थंकरों और बीस विहरमानों के स्तवनों के संग्रह रूप हैं।

(४५-५३, ८३) **स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, गीत, सज्झाय, चैत्यवंदन, देववंदन, वीनती, नमस्कार, पद आदि**—

इनमें तीर्थंकरों या अन्य जैन महापुरुषों के गुणों का वर्णन है। स्तुतिप्रधान रचनाओं को स्तवन, स्तुति, स्तोत्र वा गीत संज्ञा दी गई है। इनमें स्तुतियाँ चार पद्योंवाली होती हैं, जिन्हें 'थूई' भी कहते हैं। चैत्यवंदन मंदिर में वंदन करने की क्रियाविशेष है। बैठकर स्तवन करते समय पहले चैत्यवंदन पढ़ा जाता है। देववंदन पर्व-दिवसों के लिये विशेष अनुष्ठानरूप हैं। विनयप्रधान रचना को विज्ञप्ति या वीनती कहते हैं। गेय पदों की संज्ञा गीत है। साधुओं वा सतियों के गुण वर्णन करनेवाले तथा दुर्गुणों के परिहार एवं सद्गुणों के स्वीकार के प्रेरणादायक गीत 'स्वाध्याय' या 'सज्झाय' कहलाते हैं। 'पद' विशेष रूप से आध्यात्मिक गीतों को कहते हैं। वे राग-रागिनियों में गाए जाते हैं।

(५४-५८) प्रभाती, मंगल, सांझ, बधावा, गहूँली आदि—प्रातःकाल गाए जानेवाले गीतों को 'प्रभाती' एवं 'मंगल' और संध्या समय गाए जानेवालों को 'साँझ' या 'साँझी' कहते हैं। आचार्यों के आगमन पर बधाई के रूप में गाए जानेवाले गीतों को 'बधावा' वा 'बधावणा' और आचार्यों के सम्मुख चावल के स्वस्तिक आदि की गहूँली करते समय उनके गुणवर्णनादि के जो गीत गाए जाते हैं उन्हें 'गहूँली' कहते हैं।

(५९-६०) हीयाली, गूढ़ा—जिन पदों का अर्थ गूढ़ हो, उन्हें 'गूढ़ा' कहते हैं। किसी वस्तु के नाम को गुप्त रखते हुए, नाम को स्पष्ट करनेवाली विशेष बातों का वर्णन जिनमें किया गया हो ऐसी रचनाओं को 'हीयाली' या 'हरियाली' कहते हैं। हिंदी में इन्हें 'कूट' कहा जाता है। इनके द्वारा बुद्धि की परीक्षा की जाती है। रसों में पति-पत्नी की परस्पर गोष्ठी का जहाँ वर्णन आता है वहाँ वे हीयालियों एवं गूढ़ाओं द्वारा परस्पर मनोरंजन एवं विनोद करते पाए जाते हैं। प्राकृत सुभाषित-ग्रंथ 'वज्जालग्ग' में हीयाली वज्जा की पद्धति है। उससे तो हीयाली भी गूढ़ा जैसी ही एक-पद्यवाली रचना प्रतीत होती है। परंतु जैन कवियों की प्राप्त हीयालियाँ ५, ७ वा १० पद्यों तक की भी मिलती हैं। सोलहवीं शताब्दी से ऐसी हीयालियों का विशेष प्रचार हुआ। ये सैकड़ों की संख्या में मिलती हैं। लगभग पचास तो हमारे ही संग्रह में हैं। उनमें कई बड़ी सुंदर हैं। जैन मुनियों ने अपने नित्य के व्यवहार में आनेवाले ओघा, मुँहपत्ति, स्थापनाचारी आदि से संबंधित हीयालियाँ भी बनाई हैं। ज्ञानसार जी रचित गूढ़ाबावनी ग्रंथ हमारी ज्ञानसार-ग्रंथावली में छप चुका है।

(६१-६४) गजल, लावणी, छंद, नीसाँणी आदि—जैन कवियों की गजल-संज्ञक रचनाओं में नगरों और स्थानों का वर्णन है। इनकी रचना का एक विशेष प्रकार होता था। सभी गजलें उस एक ही शैली में रची गई हैं। सबसे प्राचीन नगर-वर्णनात्मक गजल जटमल नाहर रचित 'लाहोर गजल' है, जो सं० १६८० के आसपास की है। भाषा हिंदी है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में गजलें रचने का बड़ा प्रचार रहा है। लगभग चालीस गजलें मैंने संगृहीत की हैं। उनकी भाषा प्रधानतया हिंदी होने पर भी उनमें राजस्थानी के शब्दों का व्यवहार प्रचुरता से किया गया है। लावणी, नीसांणी और छंद भी रचना के विशेष प्रकार हैं। छंद जैन तीर्थंकरों में पार्श्वनाथ के अधिक मिलते हैं। वैसे लोकमान्य देवी-देवताओं के संबंध में तो काफी संख्या में मिलते हैं। सतरहवीं से उन्नीसवीं शती तक इनका प्रचार अधिक रहा। लावणी अधिक प्राचीन नहीं मिलती।

(६५-६८) नवरसो, प्रवहण, वाहण, पारणो आदि—जिस रचना में नौ रसों का वर्णन हो, उसका नामांत पद 'नवरसा' मिलता है। स्थूलभद्र और नेमिनाथ के दो ही नवरसे ज्ञात हैं। 'प्रवहण' और 'वाहण' उन रचनाओं के नाम हैं जिनमें जहाज के रूपक का वर्णन होता है। भगवान महावीर आदि तपस्वियों के पारणे का जिसमें वर्णन हो ऐसी रचना की संज्ञा 'पारण' रखी गई है।

(६९-७०) पट्टावली-गुर्वावली—इनमें जैन गच्छों की आचार्य-परंपरा का इतिवृत्त संकलित किया गया है। पट्ट-परंपरा वा गुरु-परंपरा का वर्णन होने से इनका नाम पट्टावली वा गुर्वावली प्रसिद्ध है।

(७१-७२) हमचड़ी-हींच—तालियों से ताल देते हुए और संगीत की लय के साथ पाँवों से ठेका देते हुए रास की भाँति गोलाकार घूमते हुए जिस रचना को पुरुष गाते हैं उसे 'हींच' और जिसे स्त्रियाँ गाती हैं उसे 'हमचड़ी' कहते हैं। कभी-कभी पुरुष और स्त्रियाँ साथ-साथ भी गाती हैं। इस संज्ञा वाली जैन रचनाएँ दो-चार ही मिलती हैं।

(७३-७५) माला, मालिका, नाममाला, रागमाला आदि—जिन रचनाओं में तीर्थंकरों के विशेषणों वा साधुओं के नामों की माला गुंफित की गई हो उन्हें नाममाला, मुनिमालिका, आदि संज्ञा दी जाती है। शील के रूपकों के नामोंवाली रूपकमाला-संज्ञक दो जैन रचनाएँ सोलहवीं शती की प्राप्त हैं। जिन रचनाओं में राग-रागिनियों के नामों को ग्रथित किया हो उन्हें 'रागमाला' कहा जाता है।

(७६) कुलक—जिस रचना में किसी शास्त्रीय विषय की आवश्यक बातें संक्षेप में संकलित की गई हों या किसी व्यक्ति का संक्षिप्त परिचय दिया गया हो उसकी संज्ञा 'कुलक' वा 'कुलड' दी गई है। प्राकृत एवं अपभ्रंश में सैकड़ों कुलक मिलते हैं, जिनकी सूची संकलित करके मैंने 'जैनधर्म प्रकाश', वर्ष ६४ अंक ८, ११, १२ में प्रकाशित की है। राजस्थानी में सोलहवीं-सतरहवीं शताब्दी के कुछ कुलक प्राप्त हैं।

(७७) पूजा—जैनागम रायपसेणीय सूत्र में तीर्थंकरों की मूर्ति में सतरह प्रकार की पूजन-विधि का वर्णन है। जंबूद्वीपपन्नति आदि में तीर्थंकरों की जन्माभिषेक-विधि का विस्तृत विवरण है। मध्यकाल में अष्ट प्रकार की पूजा का बड़ा प्रचार रहा। इसके संबंध में प्राकृत भाषा में कथाग्रंथ भी मिलते हैं। उन पूजाओं में से स्नात्रविधि पहले संस्कृत में की जाती थी और पीछे अपभ्रंश के

जन्माभिषेक और कलश भी इसी विधि में सम्मिलित कर दिए गए। पंद्रहवीं शताब्दी तक तो यही क्रम चालू रहा, पर सोलहवीं में कवि देपाल ने तत्कालीन भाषा में स्नात्रविधि की रचना की। फिर इस संज्ञावाली अनेक पद्य रचनाएँ राजस्थानी और गुजराती में बनती चली गईं। अष्टप्रकारी पूजा भी पहले एक-एक श्लोक बोलकर कर ली जाती थी। पीछे से उसके विस्तृत वर्णनवाली पूजाएँ भी लोकभाषा में रची गईं। अन्य पूजाओं में भी इन आठ प्रकारों को महत्त्व दिया गया है। सत्तरभेदी पूजा का सतरहवीं शताब्दी में तपागच्छीय सकलचंद और खरतरगच्छीय साधुकीर्ति आदि ने सर्वप्रथम लोकभाषा में निर्माण किया। पूजाओं का प्रचार उन्नीसवीं शताब्दी में बड़े जोरों से हुआ। फलतः पचासों विविध नामोंवाली पूजाओं का उन्नीसवीं शती से अब तक निर्माण होता रहा है।

(७८) **गीता**—भगवद्गीता का प्रचार विगत कई शताब्दियों से बढ़ता चला आ रहा है, अतः 'गीता' शब्द की लोकप्रियता से आकर्षित होकर कुछ जैन विद्वानों ने इस नामांत पदवाली रचनाएँ भी की हैं, जिनका कुछ परिचय मैंने 'श्रमण', वर्ष २ अंक ९ में 'गीता-संज्ञक जैन रचनाएँ' लेख में दिया है।

(७९-८०) पट्टाभिषेक, निर्वाण, संयमश्री विवाह वर्णन आदि—जिस रचना में जैनाचार्यों के पट्टाभिषेक (आचार्य-पद-प्राप्ति) का वर्णन हो उसे 'पट्टाभिषेक रास' एवं जिसमें उनकी स्वर्ग-प्राप्ति या निर्वाण वर्णन हो उसे निर्वाण तथा जिसमें दीक्षा-वर्णन की प्रधानता हो उसे 'संयमश्री विवाह वर्णन' संज्ञा दी गई है।

संस्कृत साहित्य में व्याख्या की पद्धतियाँ

[श्री रामशंकर भट्टाचार्य]

संस्कृत साहित्य में अति प्राचीन काल से व्याख्या करने की रीति चली आ रही है तथा व्याख्या-ग्रंथों के अनेक भेदों एवं विशेषताओं के सोदाहरण उल्लेख भी प्राचीन काल से ही दृष्ट होते हैं। व्याख्या की पद्धति का विकास कितने रूपों में हुआ तथा व्याख्या-ग्रंथों के कितने भेद आदि हैं, यह संक्षेप में इस लेख में बताया जायगा। प्रसंगतः व्याख्या के स्वरूप, प्रयोजन आदि की भी आलोचना की जायगी।

शंका हो सकती है कि व्याख्या तो सदैव एकरूप ही होती है—उसमें केवल दुर्बोध शब्द का स्पष्टीकरण किया जाता है—अतः उसमें विकास का प्रसंग क्या? उत्तर यह है कि शाब्दिक अस्पष्टता का ज्ञान मेधा के तारतम्य के अनुसार होता है, अतः शाब्दबोध में जिस प्रकार का विपर्यय होगा उसके दूरीकरण के लिये उसी प्रकार की व्याख्या भी होगी। अतएव व्याख्या की अनेक रीतियाँ हो सकती हैं। वक्ष्यमाण उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा।

व्याख्या के उद्देश्य को आचार्य व्याडि ने बहुत स्पष्ट शब्दों में बताया है—"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्।" इससे तीन सिद्धांत विनिर्गत होते हैं—(१) शास्त्र के अर्थज्ञान में संदेह हो जाया करता है; (२) संदेह होने के कारण शास्त्रार्थ की अप्रतिष्ठा नहीं समझनी चाहिए; (३) परंपरागत साधु व्याख्यान से संदेह दूर हो जाते हैं।

व्याख्या के लक्षण

१—पतंजलि ने व्याख्या के विषय में कहा है—"ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति? न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्, किं तर्हि? उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति" (पस्पशाह्निक)। अर्थात् जिस सूत्र में उदाहरण, प्रत्युदाहरण तथा वाक्याध्याहार (गम्यमान अर्थ का कथन) हो वह व्याख्या है। केवल चर्चापद (चर्च्यमानानि विभज्यमानानीत्यर्थः—उद्योत) अर्थात् सूत्र का विच्छेद करना ही व्याख्यान नहीं है, क्योंकि उससे

निःसंशय अर्थबोध नहीं होता। इससे ध्वनित होता है कि अपेक्षित अंश का पूरण तथा समझाने के लिये आवश्यक विषय का कथन व्याख्यान है।

२—पराशर उपपुराण (अ० १८) में कहा है—"पदच्छेदः पदार्थोक्तिः विग्रहो वाक्ययोजना। आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पंच लक्षणम् ॥" अर्थात् व्याख्यान में पाँच विषयों का उपन्यास होना चाहिए—(१) पदच्छेद, अर्थात् व्याख्येय वाक्य के अंतर्गत पदों का पृथक्करण, क्योंकि पदों का अन्वयपूर्वक बोध होने से वाक्यार्थ का बोध हो ही जायगा; (२) पदार्थोक्ति, अर्थात् अप्रचलित एवं क्लिष्ट पदों का अर्थ-कथन; (३) विग्रह, अर्थात् समासों में प्रत्येक पद को अलग-अलग दिखाना; (४) वाक्ययोजना, अर्थात् अवांतर वाक्यों का परस्पर संबंध दिखाना या मूल वाक्य का आशय बतलाना, (५) आक्षेप का समाधान। यद्यपि इस अंतिम का व्याख्या से साक्षात् संबंध विशेष नहीं है तथापि मूल वाक्य में जो न्याय-दोष हो उसका निरा-करण उक्त व्याख्या में होना चाहिए। परवर्ती काल में यह लक्षण अधिकता से मिलता है।

३—'प्रयोगरत्नमाला' में उपर्युक्त के समान ही एक व्याख्या-भेद का उल्लेख है—'उदाहृतिः पदकृतिः पदार्थानां विवेचनम्। तन्त्राणां त्रिविधा व्याख्या शिशूनां शीघ्रबोधिनी ॥" वस्तुतः यह लक्षण पूर्वोक्त दोनों लक्षणों का सार-रूप है।

४—निरुक्त-व्याख्या में भगवद्दुर्गाचार्य ने व्याख्या का स्वरूप बतलाया है—'विविच्य आख्या'; अर्थात् मूल का विवेचन कर जो विवरण किया जाता है वह व्याख्या है।

५—व्याख्या के स्वरूप के संबंध में विष्णुधर्मोत्तर (३।५) में अनेक विशिष्ट तथ्य कहे गए हैं जिनका सारांश इस प्रकार है—'सूत्र की व्याख्या छः प्रकार की होती है—आरंभ (ग्रंथारंभ का सार्थक्य, जैसा शंकराचार्य ने वेदांत-भाष्य में दिखाया है); संबंध (अन्य शास्त्र से संबंध तथा पूर्वापर संबंध); सूत्रार्थ; सूत्र-विशेषण (सूत्र में अकथित, अथच सूत्र से ज्ञाप्यमान विषय का विवरण तथा सूत्र की निर्दोषता का प्रकाशन); चोदक (शंका); परिहार (उत्तर)। सूत्र की व्याख्या में पहले पदच्छेद करना चाहिए, फिर समास दिखाना चाहिए और फिर उसका अर्थ। योग (इसका अर्थ चिंत्य है)[1] की व्याख्या षड्विध है—सूत्रार्थ, पदार्थ, हेतु,

---

१—पाणिनीय शास्त्र में योग सूत्र का पर्यायवाची है, संभव है यही अर्थ यहाँ विवक्षित हो।

क्रम, निरुक्त, विन्यास। तंत्र की व्याख्या भी छः प्रकार की है—उपोद्घात (प्रयोजन तथा संबंध का विवेचन), पद, पदार्थ, पद-विग्रह, अविमर्श, प्रत्यवस्था (अविमर्श=पूर्वपक्ष; संदेह प्रकट करना। प्रत्यवस्था=उसका उत्तर देना)।' कहीं-कहीं तंत्र-व्याख्या का थोड़ा-सा भिन्न लक्षण भी दिया गया है; यथा "उपोद्घातः पदं-चैव पदार्थः पदविग्रहः, चालना प्रत्यवस्था च व्याख्या तंत्रस्य षड्विधा।" यहाँ 'चालना' का अर्थ स्पष्ट नहीं है, संभवतः इसका अर्थ 'संदेह करना' है। किसी के मत से प्रकृति-प्रत्यय से निर्मित आदेश का नाम चालना है।

व्याख्या की पद्धतियाँ

वैदिक वाङ्मय सर्वप्राचीन साहित्य है। उसके प्राचीनतम अंश मंत्र-संहिता में भी व्याख्या का प्रतिभास दिखाई पड़ता है। यद्यपि संहिता से प्राक्तन ग्रंथ न होने के कारण उसमें किसी अन्य ग्रंथ की व्याख्या नहीं हो सकती, तथापि कहीं-कहीं उसमें निर्वचन के साथ शब्दों का प्रयोग मिलता है, यथा 'अश्नन्तौ अश्विनौ' (अश्विन् शब्द के साथ अश् धातु का भी उल्लेख)। यह असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करता है कि व्याख्या की रीति वेद-समकालिक है, तथा स्वयं ग्रंथकार को भी व्याख्या के साथ कहने की प्रवृत्ति होती है। ब्राह्मण-ग्रंथों में भी यह रीति मिलती है ('तद् यद् अक्षरत् तदक्षरम्', शतपथ ६।१।३।६)। अतः पहले हम वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध व्याख्या-रीतियों का ही निदर्शन करेंगे।

(१) वेदशाखीय—वैदिक वाङ्मय में व्याख्या का जो प्राचीनतम रूप दृष्ट होता है उसे हम 'वेदशाखीय व्याख्या' कह सकते हैं। इससे पहले किसी ग्रंथ को व्याख्येय मानकर उसकी व्याख्या के लिये ग्रंथ-रचना की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। मूल संहिता के साथ शाखाओं की तुलनात्मक आलोचना से 'शाखीय व्याख्या' का रूप स्पष्ट हो जायगा। इस पद्धति की विशेषता यह है कि इसमें केवल पदों का परिवर्तन कर दिया गया है, अर्थात् अप्रचलित एवं क्लिष्ट पदों के स्थान पर सुबोध्य तथा तत्काल प्रचलित पदों का प्रयोग किया गया है। किसी प्रकार का शंका-समाधान या शाब्दिक विश्लेषण इसमें नहीं दिखाई पड़ता। उदाहरणार्थ, मूल यजुर्वेद में पाठ है—'भ्रातृव्यस्य वधाय' (१।१८), किंतु परवर्ती काल में काण्व संहिता में उसी स्थल का पाठ है—'द्विषतो वधाय' (१।२।६)। इसी प्रकार मूल यजुर्वेद में है 'एष वो अमी राजा' (६।४०), पर काण्व-संहिता में है 'एष वः कुरवो राजा, एष पञ्चाला

राजा' (११।३।३)। मूल वेद में जो सामान्य शब्द था वह बाद में विशेषण तथा अन्य विवरण सहित पढ़ा गया, इससे शास्त्रीय व्याख्या का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इन उदाहरणों से प्रकट है कि वेद के आविर्भाव के बहुत समय बाद जब कुछ शब्द अप्रचलित हो गए या उनके गूढ़ार्थ अस्पष्ट होने लगे तब उनके स्थान पर तत्काल प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रकार शाखाओं द्वारा उनके विवक्षितार्थ की रक्षा की गई। इस प्राचीन काल में अन्य प्रकार के संदेहों की उत्पत्ति नहीं हुई थी, अतः इस व्याख्या में शब्द-परिवर्तन मात्र दिखाई पड़ता है।

(२) पदपाठीय—वैदिक वाङ्मय में व्याख्या की एक अन्य रीति भी प्रचलित है। प्रत्येक वेद के पद-पाठ हैं जिनमें मूल वैदिक पदों का विभाग किया गया है। समस्त पदों का विग्रह, तिङंत पदों में उपसर्ग और धातु का पृथक्करण आदि इस व्याख्या-शैली की विशेषता है। पदपाठ की भिन्नता से अर्थ में भी भेद हो जाता है, यह उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। वेद में एक शब्द है 'मासकृत्'। इसका पद-विच्छेद मा+सकृत् या मास+कृत्, दोनों प्रकार से हो सकता है, और पदकारों द्वारा किए गए पद-विच्छेद के अनुसार ही अर्थ करना शिष्ट मार्ग कहा जा सकता है। निरुक्त तथा व्याकरण में जो व्याख्या करने की विकसित पद्धति दिखाई पड़ती है, पदपाठ उसी का प्रारूप है, यह कहना अनुचित न होगा। वस्तुतः पदपाठीय व्याख्या ही वेद की आदिम तथा अकृत्रिम व्याख्या है।

(३) क्रमपाठीय—वैदिक साहित्य में 'क्रम-पाठ' भी एक प्रकार की व्याख्या-पद्धति ही है, क्योंकि इसमें मंत्रस्थ पदों का अन्वयपूर्वक पाठ किया जाता है, जिससे अर्थ-बोध में संशयों के दूरीकरण के साथ-साथ शब्द-बोध में सौकर्य भी होता है। यह एक अति प्राचीन रीति है। आधुनिक काल में भी अन्वय के साथ-साथ व्याख्या करने की रीति प्रचलित है। यह अन्वय दो प्रकार का होता है –(१) दंडान्वय तथा (२) खंडान्वय। क्रमपाठ में दंडान्वय की ही रीति पाई जाती है, क्योंकि इसमें मंत्रस्थ पदों का अर्थबोधानुसारी सज्जीकरण किया जाता है। जान पड़ता है कि जब 'दंडान्वय' से अर्थबोध शीघ्रता से नहीं होने लगा, तभी दूसरी रीति का प्रयोग आरंभ हुआ, जिसमें प्रश्नपूर्वक अन्वय किया जाता है। काव्यों की अति प्राचीन टीकाओं में यह रीति नहीं दिखाई पड़ती, अतएव यह रीति आधुनिक है। क्रमपाठ की व्याख्यान-पद्धति का एक उदाहरण लीजिए। 'अग्निमीले पुरोहितम्·······'(१।१।१)। यह ऋग्वेद का आदिम मंत्र है, पर यदि अन्वय-

पूर्वक इसका पाठ इस प्रकार किया जाय—'पुरोहितम् अग्निम् ईले', तो यह क्रमपाठ हुआ। स्पष्ट है कि इससे अर्थबोध में सौकर्य होता है, अतः यह एक व्याख्यान-पद्धति विशेष है।

(४) शिखा, घन, जटा आदि—पूर्वोक्त सिद्धांत से यह भी निर्गलित होता है कि वेद के 'शिखा', 'घन', 'जटा' आदि पाठ भी मुख्य या गौण रूप से एक प्रकार की व्याख्या-पद्धति ही हैं। मंत्रों के इन सब पाठों से केवल यही नहीं कि मंत्र-शरीर अविकृत रहता है, अपितु इनसे अर्थबोध भी कभी विपर्यस्त नहीं हो सकता तथा अनेक स्थलों पर शब्दबोध में संशयोच्छेदपूर्वक सुकरता होती है। शिखा, घन आदि के स्वरूप की आलोचना यहाँ अप्रासंगिक अतः अनावश्यक है। इन सबका विवरण 'जटाद्यष्टविकृति संग्रह' में देखना चाहिए।

अब वेदांगों की व्याख्यान-पद्धति भी द्रष्टव्य है। वेदांगों में 'कल्प' तथा 'ज्योतिष' को साक्षात् रूप से व्याख्या नहीं कहा जा सकता, अतः यहाँ 'शिक्षा', 'निरुक्त' आदि की ही विशिष्टता आलोचित होगी।

(५) शिक्षा—वेदांगों में प्रथम व्याख्यान-पद्धति 'शिक्षा' में दृष्ट होती है। शिक्षा = उच्चारण की विद्या। शंका हो सकती है कि इससे व्याख्यानपद्धति का क्या संबंध है ? उत्तर यह है कि कई स्थलों पर उच्चारण के भेद से अर्थ में भिन्नता हो जाती है। यथा—'इन्द्रशत्रु' शब्द यदि अंतोदात्त हो, तो उसका अर्थ होगा 'इंद्र का शत्रु', पर यदि आद्युदात्त हो तो उसका अर्थ होगा 'इंद्ररूपी शत्रु' (पतंजलि, पस्पशाह्निक)। अतएव शिक्षाशास्त्र भी व्याख्यान में सहायक होने के कारण व्याख्या की एक पद्धति विशेष है।

स्वर के बिना विवक्षित अर्थ का भी बोध नहीं होता। इसका उदाहरण है भाष्योक्त 'स्थूल-पृषती' शब्द। इसके दो अर्थ हो सकते हैं—स्थूला च असौ पृषती, अर्थात् स्थूल बिंदु; तथा स्थूल पृषती वाली गौ। इन दोनों अर्थों में भिन्न प्रकार के स्वरों का प्रयोग होता है और उनके प्रयोग के बिना वक्ता का अभीष्ट अर्थ कदापि गम्य नहीं हो सकता।

(६) निरुक्त—इस शास्त्र में भी एक विचित्र व्याख्या-पद्धति का परिचय मिलता है। यह पदपाठ व्याख्या से अधिक विकसित है, ऐसा पहले कहा जा चुका है। निरुक्त व्याख्या की विशिष्टता यह है कि यह प्रत्येक शब्द की प्रकृति का निर्देश

करता है, प्रत्येक शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त के अनुसार उसके व्युत्पत्तिनिमित्त का अन्वेषण करता है तथा एक शब्द से अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है, इसका सप्रमाण निरूपण करता है। उदाहरणार्थ, निघंटु के प्रथम शब्द (गो) की व्याख्या में निरुक्तकार ने कहा है—'गो' पृथिवी का नाम है, क्योंकि यह दूर तक गमन करती है, किंच इसमें भूत (प्राणी) गमन करते हैं। अथवा 'गा' धातु से भी यह शब्द संभव है...' इत्यादि। यही बात 'पद' शब्द के निर्वचन में भी है। यास्क के अनुसार 'पाद' शब्द गत्यर्थक धातु से बनता है, उसका निधान होने के कारण पद का नाम पाद है × × ×। पशुओं के चार पैर होते हैं, अतः पाद शब्द चतुर्थांशवाची भी होता है, इत्यादि। अर्थ के साथ शब्द की प्रकृति का समन्वय दिखाना इस रीति का मौलिक वैशिष्ट्य है।

(७) व्याकरण-- व्याकरणशास्त्र की व्याख्या-पद्धति निरुक्त से अनेक अंशों में भिन्न है अतः यह भी एक विशिष्ट व्याख्या-पद्धति का विज्ञापक है। यद्यपि ये दो शास्त्र परस्पर स्वार्थसाधक हैं, पर व्याकरण-पद्धति की कुछ अपनी विशेषता है। नैरुक्त व्याख्या केवल शब्द की प्रकृति का उल्लेख करती है, प्रत्यय का नहीं, परंतु व्याकरण में अवश्यंभावी रूप से प्रत्येक पद के प्रकृति-प्रत्यय को दिखाया जाता है। इस शास्त्र के अनुसार प्रत्यय का अर्थ प्रकृति के अर्थ से बलवान् होता है, अतः प्रत्यय का उल्लेख इसकी व्याख्या-पद्धति का मौलिक वैशिष्ट्य है। व्याकरणशास्त्र निरुक्त की भाँति शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त के साथ उसके व्युत्पत्तिनिमित्त का समन्वय सर्वत्र नहीं दिखाता। उसकी व्याख्या-पद्धति इस प्रकार की होती है कि उससे अज्ञात शब्द सुनकर उसके प्रकृति-प्रत्यय का ऊहन कर कथंचित् अर्थबोध किया जा सकता है। व्याकरणशास्त्र यह भी नहीं बतलाता कि अर्थों का विकास किस प्रकार होता है तथा किस प्रकार एक शब्द विभिन्न अर्थ देने लगते हैं—जो निरुक्त की एक मुख्य विशेषता है। परंतु यह विशेषता केवल व्याकरण में ही होती है कि वह व्याख्या द्वारा यह बतलाता है कि कौन शब्द किस अर्थ में साधु है, कौन किस अर्थ में असाधु।

(८) छंदशास्त्र—यद्यपि छंदशास्त्र का मुख्य संबंध अर्थों के विशदीकरण से नहीं है और इस कारण यह कोई मौलिक व्याख्या-पद्धति नहीं है, तथा लौकिक संस्कृत में छंदभेद के साथ अर्थभेद का दृष्टांत भी नहीं मिलता एवं वेद में भी क्वचित्

ही मिलता है, तथापि छंदशास्त्र वेद-व्याख्यान के लिये ही है और वेद में कई स्थलों पर छंदभेद से अर्थभेद हो जाता है, अतः अर्थज्ञान में सहायक होने के कारण इसकी भी गणना हमने व्याख्या-रीतियों में की है।

छंदभेद से अर्थभेद का एक विशिष्ट उदाहरण दिया जाता है। ऋग्वेद में एक मंत्र है "त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः देवेभिर्मानुषे जने" (६।१६।१)। इसके छंद के विषय में दो मत हैं। ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार यह 'वर्धमाना गायत्री' (६+७+८ अक्षर) है। पर निदान सूत्र के अनुसार यह 'पिपीलिका मध्या' है। वर्धमाना गायत्री मानने पर अन्वय होगा—त्वमग्ने यज्ञानां—होता विश्वेषां हितः—देवेभिर्मानुषे जने; और द्वितीय मत से होगा—त्वमग्ने यज्ञानां होता—विश्वेषां हितः—देवेभिर्मानुषे जने। प्रथम मत से 'होता' शब्द पूर्वान्वयी होगा, द्वितीय मत से उत्तरान्वयी। अतः छंदभेद से अर्थभेद मानना पड़ेगा।

अब हम लौकिक संस्कृत साहित्य से ऐसी व्याख्या-रीतियों का विवरण देंगे जिनमें केवल शब्द का विश्लेषण ही नहीं, अपितु अपेक्षित विषय का पूरण एवं शंका-समाधान आदि भी है। अर्थ-विश्लेषण की दृष्टि से ये पद्धतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें शाब्दिक विश्लेषण कुछ अंश तक गौण है।

(९) वृत्ति—इस रीति का प्रयोग सूत्रग्रंथों की व्याख्या के लिये किया जाता था। इसका लक्षण है—"सूत्रार्थप्रधानो ग्रंथो वृत्तिः" (पदमंजरी); अर्थात् जिस रीति में केवल सूत्रों का अर्थ मात्र दिखाया जाय वह 'वृत्ति' है। सूत्र का स्वरूप अति लघु होता है, अतः उसमें अनेक विषयों का अध्याहार कर सूत्रार्थ की पूर्णता दिखाई जाती है। इसी पूर्णता-विधायक रचना-शैली का नाम वृत्ति है। सूत्रों की व्याख्या में वृत्ति ही सर्वप्राचीन है। सूत्र व्याख्यासापेक्ष होते ही हैं (सूत्राणां सोपस्कारत्वात्, प्रदीप ६।१।१) और इनका अविनाभावी उपस्कार (सापेक्ष अर्थ का पूरण) वृत्ति से ही किया जाता है। जैसा कि आचार्य कुमारिल ने कहा है (प्रसिद्धहानिः शब्दानां अप्रसिद्धे च कल्पना; न कार्या वृत्तिकारेण सति सिद्धार्थसंभवे—श्लोकवार्तिक, १।१।१), वृत्ति में शंका-समाधान तथा अनपेक्षित अर्थ का अवतरण नहीं करना चाहिए।

(१०) वार्तिक—इस व्याख्या में सूत्रों की समालोचना की जाती थी। इसका लक्षण है—"उक्तानुक्तदुरुक्तादिचिंता यत्र प्रवर्तते, तं ग्रंथं वार्तिकं प्राहुः वार्तिकज्ञा

विपश्चितः" (संबंधवार्तिक, पृष्ठ ७); अर्थात् व्याख्येय ग्रंथ की उक्त-अनुक्त-दुरुक्त संबंधी समालोचना का नाम वार्तिक है। विष्णुधर्मोत्तर में भी वार्तिक का लक्षण दिया है, वहाँ प्रयोजनांश के विवरण तथा संशय-निर्णय की उपपत्ति को भी वार्तिक-शैली का वैशिष्ट्य बतलाया गया है।

(११) भाष्य—संशय-निराकरण आदि से युक्त व्याख्या-शैली का दूसरा प्रकार 'भाष्य' भी है। व्याख्या की पद्धतियों में यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका सामान्य लक्षण है—"आक्षेपसमाधानपरो ग्रंथो भाष्यम्" (पदमंजरी)। अन्यत्र इसका लक्षण है—"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः, स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।" इन दोनों को मिलाने से भाष्य का लक्षण इस प्रकार होगा—'जिस व्याख्या-पद्धति में शंकाओं का समाधान हो, सूत्रानुसारी शब्दों से सूत्रार्थ का विचार हो तथा अपनी ओर से प्रयुक्त शब्दों की भी व्याख्या हो, वह भाष्य है।' वार्तिक में जो शंका रहती है वह सूत्रों से स्वयं उत्थित होती है, अन्य संप्रदाय द्वारा उठाई गई नहीं, तथा वार्तिक में अप्रासंगिक विषयों का विचार नहीं होता; परंतु भाष्य-व्याख्या में शास्त्र से संबंधित सभी विषयों का विचार किया जाता है।

(१२) न्यास—जिस व्याख्यान-पद्धति में मूल ग्रंथ के सिद्धांत की स्थापना की ओर अधिक चेष्टा की जाती है उसका नाम 'न्यास' है; क्योंकि इसका लक्षण किया गया है—"न्यस्यते स्थाप्यते दृढीक्रियते अनेनेति न्यासः।" यद्यपि प्रचलित न्यास-ग्रंथों में केवल स्वमत-स्थापन का ही प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता, परमत-खंडन भी है, तथापि यह समझना चाहिए कि उन स्थलों पर परमत-खंडन स्वमत-स्थापन के लिये ही है, अतएव लक्षण का समन्वय हो जाता है।

(१३) चूर्णि—उक्त पद्धति की विपरीत पद्धति भी है, उसका नाम है 'चूर्णि'। किसी के मत से यह भाष्य का पर्यायवाची है। इस रीति में परमत-खंडन ही अधिक मात्रा में किया जाता था। यह शैली परमत को विचूर्ण करती थी, इसी से इसका नाम 'चूर्णि' पड़ा।

उपर्युक्त दो रीतियाँ न्यायशास्त्र के 'जल्प' तथा 'वितण्डा' के अनुसार हैं। केवल स्वमत-स्थापन करने का नाम है 'जल्प' तथा केवल परमत-खंडन का 'वितण्डा'।

उपर्युक्त व्याख्यान-शैलियों में विचारांश की कुछ प्रधानता होती है, लेकिन ऐसी भी व्याख्यान-पद्धतियाँ हैं, जो मूल व्याख्येय ग्रंथ के अतिरिक्त कुछ भी नहीं

कहतीं, मूल का अर्थबोध कराना ही जिनका एकमात्र लक्ष्य है। वक्ष्यमाण पद्धतियाँ इसी प्रकार की हैं।

(१४) टीका—इस रीति में व्याख्येय ग्रंथ के प्रत्येक पद की व्याख्या होती थी। इसका लक्षण है—"टीका निरन्तरा व्याख्या"; अर्थात् अंतरहीन व्याख्या का नाम टीका है। यह रीति संभवतः बालकों को कठिन ग्रंथों का अर्थबोध कराने के लिये आविष्कृत हुई थी। अति प्राचीन काल में यह रीति नहीं दिखाई पड़ती।

(१५) पंजिका—यह टीका का ही एक उन्नततर रूप है; क्योंकि इसका लक्षण है—"पंजिका पदभंजिका", अर्थात् पंजिका का कार्य पदों का विभजन करना है। यहाँ 'पद' का अर्थ 'विषम पद' (अर्थात् जिसका अर्थ सहज रूप से समझ में नहीं आता) समझना चाहिए, अन्यथा पंजिका और टीका में कोई मौलिक अंतर नहीं रहेगा। प्रचलित पंजिकाओं में विषम-पद-व्याख्या के साथ-साथ टीका-रीति भी दीख पड़ती है, जो प्रमाणित करता है कि बाद में इन सब रीतियों का परस्पर सांकर्य हो गया।

(१६) परपश—यह भी एक विशिष्ट व्याख्यान-रीति जान पड़ती है। शिशुपाल वध (२।११२) की व्याख्या में वल्लभ ने कहा है—"परपशः प्रयोजनग्रंथः", अर्थात् जिसमें मूल ग्रंथ का प्रयोजन दिखाया जाय उस व्याख्या का नाम 'परपश' है। मल्लिनाथ ने भी प्रायः ऐसा ही कहा है—"परपशः शास्त्रारम्भसमर्थकः उपोद्घातसन्दर्भग्रंथः" (घंटापथ)। यह व्याख्या व्याख्या-ग्रंथ के आरंभ में ही लिखी जाती थी, जैसा कि व्याकरण-महाभाष्य में है।

(१७) वर्णिका—यद्यपि इसके विशेष स्वरूप का पता नहीं चलता, किंतु यह भी एक व्याख्यापद्धति जान पड़ती है। सिद्धांतकौमुदी की व्याख्या में तत्त्वबोधिनी में लिखा है—"वर्णिका ग्रन्थविशेषस्य व्याख्या" (पृ० ५१०, लाहौर-संस्करण)। किसी के मत से यह किसी व्याख्या का नाम है। वेदांत-भाष्य में १।१।३ सूत्र की आचार्य शंकर ने दो व्याख्याएँ की हैं और प्रत्येक व्याख्या के अंत में कहा है "इति प्रथमं वर्णकम्", "इति द्वितीयं वर्णकम्।" क्या इससे यह ध्वनित हो सकता है कि वैकल्पिक व्याख्या का नाम 'वर्णक' है ?

अन्य आवश्यक ज्ञातव्य

अब हम व्याख्या संबंधी कुछ विशिष्ट तत्त्वों के विषय में प्राचीन आचार्यों का अभिमत प्रस्तुत करेंगे।

(१) यह सर्वविदित है कि व्याख्या ग्रंथ की ही होती है, किसी पदार्थ-विशेष की नहीं, पर व्याकरण-महाभाष्य में कहा गया है[२]—"पाटलिपुत्रस्य व्याख्यात्री सुकोशला", अर्थात् सुकोशला नगरी पाटलिपुत्र नगर की व्याख्या करती है। वस्तुतः यहाँ व्याख्या सादृश्यमूलक है, अर्थात् व्याख्यान-ग्रंथों में जैसे व्याख्येय ग्रंथ के अवयवों का स्पष्टीकरण (विशिष्ट आख्या) किया जाता है, वैसे ही सुकोशला नगरी यह दिखाती है कि पाटलिपुत्र नगर का अवयव-संस्थान कैसा है। 'अवयवशः आख्या व्याख्या'—यह लक्षण ग्रंथ तथा नगर दोनों में ही चरितार्थ हो रहा है—भिन्न दृष्टिकोण से।

(२) 'व्याख्या विकल्प' व्याख्या का एक अवश्य-ज्ञातव्य तत्व है। कभी-कभी देखा जाता है कि व्याख्याकार प्राक्तन व्याख्या का खंडन किए बिना ही नई व्याख्या करते हैं, तब यह प्रश्न उठता है कि यह इस नई व्याख्या का प्रयोजन क्या ? इस प्रश्न का युक्ततम उत्तर आचार्य कुमारिल ने दिया है—"सर्वव्याख्या विकल्पस्य द्वयमेव प्रयोजनम्, पूर्वत्रापरितोषो वा व्याख्यावैशद्यमेव वा" (तंत्र-वार्त्तिक, १।१।१); अर्थात् वैकल्पिक व्याख्या के दो ही प्रयोजन होते हैं—पहला, पूर्व व्याख्या से असंतोष; दूसरा, नई व्याख्या का पूर्व व्याख्या से उत्कर्ष। ऐसे स्थलों पर कौन सी व्याख्या व्याख्याकारसम्मत है, इस विषय में संप्रदाय ही प्रमाण होता है।

(३) पट्काव्यों के टीकाकार मल्लिनाथ ने अपनी काव्य-व्याख्या के वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है। यह व्याख्यान-पद्धति सर्वोत्कृष्ट है, इसमें कोई संदेह नहीं। उनका कथन है—"इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया, नामूलं लिख्यते किंचिन् नानपेक्षितमुच्यते" (सब टीकाओं के प्रारंभ में कथित)। वस्तुतः उनकी टीका में व्याख्येय ग्रंथ के सर्वांश की व्याख्या है, कोई वाक्य निर्मूल नहीं है, तथा अप्रासंगिक बातों का प्रसंग नहीं है। मल्लिनाथ की इस उन्नततम शैली का एक कारण है। प्राचीन लोग कहते थे—"समासोक्तं मतिं हन्ति विस्तरोक्तं न गृह्यते", अर्थात् स्वल्प कहने से अर्थबोध दुर्घट हो जाता है और विस्तार से कहने से सुनने में प्रवृत्ति नहीं होती। अतः मल्लिनाथ ने एक तृतीय शैली को जन्म दिया।

२—तस्य व्याख्यान इति च तद् व्याख्यातव्य नाम्नः। (अष्टाध्यायी)

(४) प्राचीन आचार्यों ने कभी-कभी दो सर्वथा पृथक् ग्रंथों में भी, एक अन्य का व्याख्या-ग्रंथ है—ऐसा माना है। इसका उदाहरण स्वल्प है तथा इसे एक गौण व्याख्यान समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, श्रीमद्भागवत के विषय में गरुड पुराण में कहा गया है—गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ...' इत्यादि, अर्थात् भागवत गायत्री का भाष्य है। भाष्य का जो लक्षण पहले कहा गया है वह गायत्री मंत्र पर कुछ भी नहीं घटता। शायद प्राचीन लोग यह समझते थे कि भागवत का अंतिम तात्पर्य वही है जो गायत्री का है तथा भागवत की कथा इत्यादि सब उसके अर्थ की पुष्टि के लिये है, इसलिये गौण रूप से उसे 'भाष्य' कहा गया। यही बात पुराणों पर भी घटती है, क्योंकि पुराणों को 'वेद-व्याख्या स्वरूप' कहा जाता है। वेद के शास्त्रीय व्याख्यान तथा पौराणिक व्याख्यान में अंतर है। शास्त्रीय व्याख्यान में वैदिक शब्दानुपूर्वी को, जहाँ तक संभव है, लेकर व्याख्या की गई है (भाष्यादिकों की तरह नहीं), पर पुराणों की शब्दानुपूर्वी वेद से साक्षात् कुछ भी संबंध नहीं रखती।

(५) वेद की व्याख्या के विषय में मध्व-संप्रदाय में एक विशिष्ट तथ्य है (यद्यपि वह आजकल के विद्वानों की दृष्टि में संगत नहीं होगा)। तदनुसार लारी टीका में कहा गया है 'गुणाधिक्यं येन भवेद् वेदस्यार्थः स एव हि" (पृ० १), अर्थात् जिस व्याख्या में मंत्र का सबसे उच्च अर्थ हो, वही वेद का ठीक अर्थ है—ऐसा जानना चाहिए। वेद-व्याख्या करने के लिये इस रीति को अपनाने का कारण यह है कि भारतीय परंपरा के अनुसार वेद सर्वोच्च ज्ञान का अकृत्रिम आकरस्थान है, अतएव जिस व्याख्या में सर्वोत्कृष्ट अर्थ किया गया हो उसी को ठीक-ठीक वेद-व्याख्या कहा जा सकता है।

प्राचीन आचार्य यह भी मानते थे कि व्याख्याता को स्वसंस्कार के अनुसार अर्थ का प्रतिभास होता है और इसी लिये व्याख्या व्याख्यातृप्रज्ञा की अनुगामिनी ही होती है। यही कारण है कि प्राचीन काल में व्याख्यानकर्ता के लिये प्राचीनतम सांप्रदायिक आचार्यों के मतों का अनुसरण भी एक आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था। निरुक्त व्याख्या में भगवद्दुर्गाचार्य ने कहा है कि प्रज्ञाशुद्धि के अनुसार व्याख्याता वेद की साधु तथा साधुतर व्याख्या कर सकता है। इस सिद्धांत को उन्होंने अन्यत्र भी कहा है, यथा—'अनुपक्षीणशक्तयो हि विभवो वेदशब्दाः यथाप्रज्ञपुरुषाणामर्था-

भिधाने विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रकुर्वन्ति इत्येतदनेन प्रदर्शितं भवति' (निरुक्त टीका १।२०)।

(६) व्याख्यान के गुण के विषय में प्राचीन शास्त्र में एक और भी नियम दीख पड़ता है, वह है 'व्याख्यान-गौरव' तथा 'व्याख्यान-लाघव'। जब अनावश्यक क्लिष्टता से व्याख्या की जाती है तब उसमें 'व्याख्यानगौरव' रूप दोष होता है और इसी लिये वह प्रायः त्याज्य होती है, तथा जिस व्याख्या में इस प्रकार की क्लिष्ट कल्पना न कर लघुता के साथ युक्तिसंगत अर्थ दिखाया जाता है उसी को प्राचीन लोग प्रामाणिक मानते थे। इसमें हेतु यह है कि यदि क्लिष्ट-कल्पनापूर्वक व्याख्या की जाय तो वैसी व्याख्याओं की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। क्योंकि क्लिष्ट कल्पना का कोई नियामक नहीं है। अतएव गौरवयुक्त व्याख्यानों के प्रति अंत में अविश्वास हो जाता है। 'व्याख्यालाघव' में यह दोष नहीं है, यह सहज ही समझा जा सकता है।

अवहट्ठ और उसकी मुख्य विशेषताएँ

[श्री शिवप्रसाद सिंह]

भाषाशास्त्रियों के बीच अवहट्ठ काफी विवाद का विषय रहा है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने कभी इसे मैथिल अपभ्रंश, कभी संक्रांतिकालीन भाषा और कभी पिंगल आदि नाम दिए हैं। यह विचारणीय है कि अवहट्ठ क्या है, और इसका प्रयोग अब तक के उपलब्ध साहित्य में किस-किस रूप में हुआ है।

अवहट्ठ शब्द का सबसे पहला प्रयोग ज्योतिरीश्वर[1] ठाकुर के 'वर्णरत्नाकर' (१३२५ ई०) में मिलता है। राजसभाओं में भाट जिन छः भाषाओं का वर्णन करता है उनमें एक अवहट्ठ भी है। दूसरा प्रयोग विद्यापति की कीर्तिलता में हुआ है,[2] जो सर्वविदित है। प्राकृतपैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने पहले सूत्र की व्याख्या में पिंगल को अवहट्ठ के रूप में स्वीकार किया है।[3] तेरहवीं शती के प्रसिद्ध अपभ्रंश कवि अब्दुर्रहमान ने अपने 'संदेशरासक' में अवहट्ठ भाषा का नाम लिया है।[4]

इन चारों प्रयोगों पर विचार करने से पता चलता है कि अवहट्ठ का प्रयोग सब जगह अपभ्रंश के लिये ही किया गया है। षड्भाषा प्रसंग में सर्वत्र संस्कृत और प्राकृत के बाद अपभ्रंश का ही नाम लिया जाता है। षड्भाषा का भी प्रयोग विरल नहीं। लोष्टदेव कवि की प्रशंसा में मंख ने कहा था कि छः भाषाएँ उसके मुख में

१—पुनु कइसन भाट, संस्कृत, पराकृत, अवहट्ठ, पैशाची, शौरसेनी, मागधी छहु भाषा क तत्वज्ञ, शकारी, आभिरी, चांडाली, सावली, द्रावली, औतकली, बिजातीया सातहु भाषा क कुशलह। (वर्णरत्नाकर, ५५ ख)

२—देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा। (कीर्तिलता)

३—प्रथमं भास तरंडो णओ सो पिंगलो जअइ।

टीका—प्रथमो भाषा तरंडो प्रथम आद्यः भाषा अवहट्ठ भाषा यया भाषया अयं ग्रंथो रचितः सा अवहट्ठ भाषा। (प्रा० पैं०, पृ० ३)

४—अवहट्ठय सक्कय पाइयंमि पेसाइयमि भाषाए।

लक्खण छन्दाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहि। (संदेशरासक, पृ० सं० ६)

सदा निवास करती हैं।[५] पृथ्वीराज की प्रशंसा करते हुए जयानक ने लिखा है कि छः भाषाओं में उनकी शक्ति थी।[६] ये छः भाषाएँ कौन थीं? मंख कवि के श्रीकंठचरित की टीका से पता चलता है कि छः भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, शौर-सेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश भाषा की गणना होती थी।[७]

श्रीकंठचरित की टीका में वर्णित ये छः भाषाएँ श्री ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर में कथित छः भाषाओं से पूर्णतया मेल खाती हैं। इन प्रसंगों से स्पष्ट मालूम होता है कि अपभ्रंश ही को ज्योतिरीश्वर ने अवहट्ठ कहा है। विद्यापति और अद्दहमाण ने संस्कृत, प्राकृत और अवहट्ठ, इन तीन भाषाओं की चर्चा की है। यह भाषात्रयी भी काफी प्रसिद्ध है। संस्कृत, प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश की गणना प्रायः ही होती है।

'अपभ्रंश' शब्द वस्तुतः स्वयं अपभ्रंश भाषा के नियमों के अनुसार 'अवहंस' हो जाता है। इस 'अवहंस' शब्द का प्रयोग बहुत पहले प्राकृत भाषा के एक कवि ने किया है। अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका में श्री एल० बी० गांधी ने आठवीं शताब्दी के उद्योतन सूरि की कुवलयमाला का एक उद्धरण दिया है, जिसमें 'अवहंस' शब्द का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश की प्रशंसा करते हुए कवि ने कहा है कि अपभ्रंश शुद्ध हो या संस्कृत-प्राकृत से मिश्रित हो, यह पहाड़ी कुल्या की तरह अप्रतिहतगति है तथा कुपित प्रियतमा के संलाप की तरह मनोहर है।[८] राजशेखर कवि ने अपने बालरामायण में इसी 'अवहंस' को 'अवहत्थ' कहा है। इन प्रयोगों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि अवहंस, अवहट्ठ, अवहत्थ आदि अपभ्रंश के ही भिन्न अभिधान हैं। हाँ, अवहट्ठ के प्रयोग के बारे में एक बात और

५—मुखे यस्य भाषाः षडधिशेरते। (श्रीकंठचरित, अंतिम सर्ग)

६—बाल्येऽपि लीलाजिततारकाणि गीर्वाणवाहिन्युपकारकाणि।
जयन्ति सोमेश्वरनन्दनस्य षण्णां गिरां शक्तिमतो यशांसि॥
(पृथ्वीराज विजय, प्रथम सर्ग)

७—प्राकृत संस्कृत मागध पिशाच भाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥ २।१२

८—ता किं अवहंसं होइ। तं सक्कयपय उभय सुद्धासुद्ध पय सम तरंग रंगत वग्गिरं पणय कुविय पियमाणिनि समुल्लाव सरिसं मणोहरम्।

विचारणीय है। अवहट्ट शब्द का प्रयोग केवल परवर्ती अपभ्रंश के कवियों ने किया है, इसलिये चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि यह जान-बूझकर हुआ और ये कवि इस शब्द से अपभ्रंश की भी भ्रष्टता, या भाषाविज्ञान की पदावली में कहें तो अपभ्रंश का विकास द्योतित करना चाहते थे।

परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट के विषय में बहुत सी भ्रांत धारणाएँ हैं जिनका निराकरण आवश्यक है, पर इस निबंध में हम अवहट्ट की मुख्य विशेषताएँ दिखाना चाहते हैं इसलिये यहाँ हम अन्य विवादास्पद प्रश्नों को अलग रखकर थोड़े में अपनी अवहट्ट संबंधी मान्यताओं का ही उल्लेख कर देना उचित समझते हैं।

अवहट्ट, जैसा कि समझा जाता रहा है, मैथिल अपभ्रंश नहीं है। एक तो इस शब्द का प्रयोग केवल मैथिल कवियों ने (विद्यापति, ज्योतिरीश्वर) ही नहीं किया है, अपितु यह संपूर्ण उत्तर भारत के विभिन्न कवियों द्वारा परवर्ती अपभ्रंश के लिये प्रयुक्त शब्द है। दूसरे केवल कीर्तिलता की भाषा को अवहट्ट का प्रतिमान मानकर क्षेत्रीय प्रयोगों के आधार पर इस भाषा को मैथिल अपभ्रंश कहना उचित नहीं है।[९] अवहट्ट पश्चिमी प्रांतों में पिंगल नाम से ख्यात थी, ऐसा डा० चटर्जी का विश्वास है।[१०] प्राकृतपैंगलम् के टीकाकार ने पिंगल और अवहट्ट का सदृशार्थक प्रयोग अवश्य किया है, पर वहाँ भी इस अर्थसाम्य का कोई आधार नहीं बताया गया। भिखारीदास ने षट् भाषाओं में नाग भाषा का नाम लिया है।[११] नाग भाषा से शायद भिखारीदास का तात्पर्य पिंगल से है। पिंगलाचार्य नाग जाति के थे, यही इसका आधार प्रतीत होता है। एक ओर पिंगल को नाग भाषा कहा गया, दूसरी ओर मिर्जा खाँ ने अपने व्रजभाषा व्याकरण में प्राकृत अर्थात् अपभ्रंश को नागबानी या पातालबानी कहा है। संस्कृत, प्राकृत और भाषा (व्रज) के बारे में वे कहते हैं कि पहली अर्थात् 'सहंसकिर्त' में विभिन्न कला, विज्ञान आदि विषयों

९—मैंने अपने निबंध 'अवहट्ट और कीर्तिलता' में इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है।

१०—'ओरिजिन एंड डेवेलपमेंट ऑव् बैंगाली लैंग्वेज', १९२६, पृ० ११४

११—व्रज मागधी मिले अमर नाग जवन भाखानि।

सहज पारसीहू मिले खट विधि कहत बखानि॥

(काव्यनिर्णय, १।१५)

पर पुस्तकें लिखी गई हैं। इसे आकाशवाणी या देववाणी कहते हैं। दूसरी 'पराकिर्त' है। इसका प्रयोग राजा और मंत्रियों की प्रशंसा के लिये किया जाता है। इसे पातालबानी या नागबानी कहते हैं।[१२] मिर्जा खाँ 'पराकिर्त' को संस्कृत और ब्रज के बीच की वस्तु मानते हैं। अब हम चाहें तो भिखारीदास की नागभाषा, मिर्जा खाँ की पातालबानी या नागबानी (जिसे वे पराकिर्त कहते हैं) और वंशीधर की पिंगल को एक मान सकते हैं और इसे परवर्ती अपभ्रंश कहें तो अनुचित न होगा। इस तरह यदि पिंगल शब्द परवर्ती अपभ्रंश के लिये प्रयुक्त हो तो इसे 'अवहट्ठ' का सदृशार्थक मान सकते हैं। किंतु यदि यह राजस्थानी मिश्रित पुरानी ब्रज का नाम है तो अवहट्ठ का वाचक नहीं हो सकता।

सच तो यह है कि अवहट्ठ का साहित्य बहुत न्यून मात्रा में उपलब्ध है और जो कुछ है भी वह इसके मूल प्रदेश के बाहर का है जिसके कारण लोग इसे नाना नामों से पुकारते हैं। अवहट्ठ के सच्चे स्वरूप की यदि भाषाशास्त्रीय व्याख्या हो सके, तो पुरानी बंगला, पुरानी असमिया, पुरानी मैथिली आदि नामों के बिल्ले जो *किसी परवर्ती अपभ्रंश ग्रंथ पर लगा दिए जाते हैं, निरर्थक हो जायँगे।* इसी प्रकार जूनी गुजराती, प्राचीन राजस्थानी और प्राचीन गुर्जर आदि नाम भी सोच-समझ कर रखे जाने चाहिएँ। दसवीं से बारहवीं शती तक का पूरा अपभ्रंश साहित्य, जो अपनी विकसित प्रवृत्तियों एवं आधुनिक आर्यभाषाओं के उद्गम बिंदु पर प्रतिष्ठापित होने के कारण अपनी तरह का अकेला है, वस्तुतः सबका है, पर वह स्वयं अपना एक अस्तित्व रखता है। इसे आप तेसीतोरी के शब्दों में पिंगल अपभ्रंश कह लीजिए,[१३] संक्रमणकालीन अपभ्रंश कह लीजिए, इससे भाषा के स्वरूप में कोई अंतर नहीं आता। सच तो यह है कि इस काल की भाषा का ढाँचा मूलतः शौरसेनी अपभ्रंश का है, परंतु उसमें विकसित अवस्था का दर्शन होता है। अवहट्ठ का स्वरूप आधुनिक आर्य भाषाओं के मूल ढाँचे को खड़ा कर रहा था। इसमें आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास संबंधी बहुत से रहस्य छिपे हुए हैं। अवधी, ब्रज, खड़ी बोली की ही तरह अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं के ऐतिहासिक विकास की कहानी अवहट्ठ के स्वरूप-ज्ञान के बिना अधूरी या अलिखित रह सकती

१२—*'ए ग्रैमर ऑव दि ब्रज'*, विश्वभारती (कलकत्ता), १९३५, पृ० ३४

१३—'ओल्ड वेस्टर्न राजस्थानी', इंडियन ऐंटिक्वैरी, सन् १९१४-१६

है। बहुत से विद्वानों को पूर्ववर्ती और परवर्ती बँटवारा भी मान्य नहीं है। पर मेरी दृष्टि से अपभ्रंश और अवहट्ठ में मूल ढाँचे का अंतर भले न हो, विकास की अवस्था में भेद अवश्य है, और इसे ही मैं अवहट्ठ की विशेषता मानता हूँ।

पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश के बीच यद्यपि विभाजनरेखा खींच सकना कठिन है, परंतु दसवीं से तेरहवीं तक तीन शताब्दियों की भाषा के नमूनों का यदि ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया जाय, तो दोनों प्रकार के अपभ्रंशों के अंतर स्पष्ट मालूम हो सकते हैं। वाक्यगठन के विकास की दशा के निरीक्षण से स्पष्ट हो जायगा कि अवहट्ठ के वास्तविक रूप किस प्रकार अपभ्रंश की अपेक्षा आधुनिक आर्य भाषाओं के अधिक निकट होते जाते हैं। आगे इस विषय पर कीर्तिलता, चर्यागीत, ढोला मारू रा दूहा, प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह की रचनाओं, प्राकृतपैंगलम्, वर्णरत्नाकर, ज्ञानेश्वरी आदि की भाषा के आधार पर विचार किया गया है। अवहट्ठ और अपभ्रंश में ध्वनिविचार की दृष्टि से कोई बहुत महत्त्व का अंतर नहीं दिखाई देता, फिर भी परवर्ती भाषा में चार ऐसी बातें मिलती हैं जो उसे पूर्ववर्ती से भिन्न करती हैं। कुछ विद्वान् इनमें से एकाध की गणना अपभ्रंश की ध्वनि संबंधी विशेषताओं में ही कर देते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि उनके सामने पूर्ववर्ती और परवर्ती नामक कोई भेद नहीं है।

१—पूर्व स्वर पर स्वराघात

द्वित्व व्यंजनों को उच्चारण की दृष्टि से थोड़ा सहज बनाने के लिये हटा दिया जाता है और उनकी जगह एक व्यंजन का प्रयोग होता है। ऐसी अवस्था में द्वित्व व्यंजन के पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। यह प्रवृत्ति अवहट्ठ का प्राण कही गई है। डा० तेसीतोरी ने इसे अवहट्ठ की सर्वप्रमुख विशेषता स्वीकार किया है।[१४] यथा—

संस्कृत	अपभ्रंश	अवहट्ठ
अक्षर	अक्खर	आखर (ढोला० ६७)
	ठक्कुर	ठाकुर (ढोला० १७७)
विद्युत्		बीजुलिय (थू० फा० ६)
नृत्यति	नच्चइ	नाचइ ,, ,,
	अच्छइ	आछइ (नेमि० ११)

१४—तेसीतोरी, इंडियन ऐंटिक्वेरी, १९१४, प्राचीन राजस्थानी।

दिट्ठइ	दीठइ	,, १६
सिज्झइ	सीझइ	,, ,,
दुस्सिहइ	दूसिहइ (कीर्ति०)	
तिन्न	तीनू	,,

२—स्वरों की सानुनासिकता में परिवर्तन

स्वरों की सानुनासिकता के क्षेत्र में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है। प्रा० भा० आर्यभाषा काल में अनुस्वार और सानुनासिक दोनों का तात्पर्य स्वर की सानुनासिकता से था। स्पर्श व्यंजनों में अनुस्वार नहीं लगता था। पंचम वर्ण के संयोग से ही सानुनासिकता का प्रयोजन सिद्ध हो जाता था। अनुस्वार केवल य, र, ल, व, श, ष, स, ह के होने पर ही लगता था। किंतु म० आ० भा० काल में अनुस्वार देने की प्रवृत्ति बढ़ गई। परवर्ती अपभ्रंश में युक्ताक्षर के पूर्वस्वर पर स्वराघात देकर अनुस्वार को भी हल्का करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यथा—

आँग (कीर्ति०) < अंग	आँकुस	<	अंकुस
पाँच (चर्या० १४, १५) < पंच	काँधश	<	कंधा (चर्या० ३)
चाँद (चर्या० ४) < चंद्र	आँगन	<	अंगण (चर्या० २)

एम० जी० पंसे ने ज्ञानेश्वरी की भाषा का अध्ययन करके इस विषय पर विस्तार से विचार किया है।[१५]

३—अकारण सानुनासिकता की प्रवृत्ति

स्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण के साथ अनुस्वार को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति तो बढ़ी ही, कभी-कभी अकारण सानुनासिक बनाने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। अकारण सानुनासिकता की प्रवृत्ति आधुनिक आर्य भाषाओं में प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। इसका आरंभ अवहट्ट काल से ही हो गया था—

फँज (कीर्ति० पृ० ६८) < कज्ज; काँच (पृ० ६०) <कञ्चु;
भाँग (चर्या० ८२) < भग्ग < भग्न;
ओंठिम (ज्ञाने०) < ओष्ठ।

४—एक साथ कई स्वरों का प्रयोग

मध्यकालीन आर्य भाषाओं में एक साथ दो-दो तीन-तीन स्वरों के प्रयोग मिलते हैं। स्वरों के ऐसे स्वच्छंद प्रयोग से किस प्रकार गड़बड़ी फैली और किस

१५—बुलेटिन ऑव् द डेकन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट, भाग १० सं० २, पृ० १५५-५६

प्रकार उनके स्थान पर पुनः व्यंजनों का प्रयोग होने लगा जिससे तत्सम शब्दों की बहुलता दिखाई पड़ने लगी, यह एक दूसरा प्रकरण है। यहाँ इतना ही कहना है कि क्रियाओं के अंत में, कभी अन्य पदों के अन्य स्थानों में भी, स्वरों को संयुक्त स्वर बनाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इस प्रकार के दो संयुक्त स्वर ऐ और औ परवर्ती अपभ्रंश की अपनी विशेषताएँ हैं।

ऐ (अ+इ)—प्रायः क्रियाओं तथा अन्य शब्दों में भी अंत के अ और इ, इन दो स्वरों को मिलाकर संयुक्त कर देते हैं—

तूटै (चर्या०) < टुट्टइ	गुणै (कीर्ति०) < गुण्णइ
पै (कीर्ति०) < पइ	रहै (कीर्ति०) < रहइ

औ—संप्रयुक्त स्वर के विधान के कारण अपभ्रंश में एक साथ कई स्वर दिखाई पड़ते हैं। पिछले अपभ्रंश में इन्हें संप्रयुक्त न रखकर संयुक्त कर देने की प्रणाली दिखाई पड़ती है—

करौ (कीर्ति० १२) < करउ	चौरा (कीर्ति०) < चउअर < चत्वर
दूणौ (कीर्ति) < दुण्णउ	तौ (कीर्ति०) < तउ
आऔ (प्रा० पैं० ५१६) < आअउ < आगत	

५—संकोचन या अक्षरलोप

ध्वनिविचार के सिलसिले में ही परवर्ती अपभ्रंश की एक बहुप्रचलित पद्धति संकोचन का भी उल्लेख किया जा सकता है। यों भाषाविज्ञान की पदावली में इसे अक्षर-लोप का भी उदाहरण कहा जा सकता है। आधुनिक आर्यभाषाओं में ऐसे अनेक शब्द मिलेंगे जिनके प्राचीन एवं नवीन रूपों में आकाश-पाताल का अंतर दिखाई पड़ता है। 'अँधेरा' शब्द 'अन्धकार' से बना है। कीर्तिलता में इसका रूप 'अन्धार' मिलता है—"अन्धार कूट, दिग्विजय छूट" (पृ० ८२)। उसी प्रकार 'देवकुल' का 'देउर', देवगृह (?) का 'देवहा', 'कोट्टशीर्ष' का 'कौसीस', 'उपवास' का 'उपास', 'उत्तिष्ठ' का 'ऊंठ' और 'स्फुलिंग' का 'फुलुग' आदि रूप कीर्तिलता में मिलते हैं। इस प्रकार के रूप संदेशरासक और प्राकृतपैंगलम् में भी विरल नहीं हैं। सहकार का 'सहार' (सं० रा० १३४) तथा स्वर्णकार का 'सुन्नार' (सं० रा० १०८) मिलता है। थूलिभद्द फागु के नवें पद्य में "जिमि जिमि नाचइ मोर" में मयूर का रूप 'मोर' देखने योग्य है।

६—परसर्गों के स्थान पर मूल शब्द

रूपविचार की दृष्टि से भी पूर्ववर्ती अपभ्रंश में सूक्ष्म अंतर दिखाई पड़ता है। लिंग, वचन आदि में तो अंतर ढूँढ़ना व्यर्थ है, हाँ, कारक-विभक्तियों में कुछ अंतर अवश्य मिलता है। परंतु मुख्य अंतर परसर्गों के प्रयोग में दिखाई पड़ता है। अपभ्रंश-काल से ही परसर्गों का प्रयोग होने लगा था। परसर्गों में अपभ्रंश में सबसे प्रधान 'केंहि' और 'रेसि', ये दो चतुर्थी के परसर्ग दिखाई पड़ते हैं। इन परसर्गों का प्रयोग बाद में घटने लगा और आश्चर्य है कि कीर्तिलता में इनमें से किसी का एक बार भी प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। परसर्गों के रूप में बहुत से संस्कृत के मूल शब्द ही प्रयोग में आने लगे। पूर्ववर्ती अपभ्रंश में मूल शब्दों के स्थान पर द्योतक शब्द अधिक मिलते हैं। संकाश, समान, प्रति, कारण, विना, सहित आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। नीचे परसर्गों की एक तालिका दी जाती है—

करण—सन, सथ, समान, सहित, सउं, विना, सरिस, सरीख।

संप्रदान—लग्गि, लागे, प्रति, कारण।

अपादान—हुते, हुंति, सिउं।

संबंध—कर, को, करेउ, की, करेओ, क।

अधिकरण—माँझ, ऊपर, भीतर, माहि, माहु।

इनमें से थोड़े से ही परसर्ग ऐसे हैं जिनका प्रयोग पूर्ववर्ती अपभ्रंश में भी मिलता है।

७—सर्वनामों की प्रचुरता

परवर्ती अपभ्रंश के ग्रंथों में सर्वनामों का प्रयोग भी बड़ी छूट के साथ होने लगा। पुराने सर्वनामों के ऐसे विकसित रूप मिलते हैं जो बहुत-कुछ आजकल के रूपों की तरह दिखाई पड़ते हैं—

१. मोर वअन आकण्णे करहु।	५. तोहार कुडिया (चर्या० ३२)।
२. मोरहु जेठ्ठ गरिठ्ठ अछ।	६. तूटइ वासना तोरा (चर्या० ४१)
३. रण वलि नाहिं मों। (कीर्ति०)	७. मन तोहोर दोसे (चर्या० ३९)
४. पिय मेरा मइ पिय की। (ढोला०)	८. ताक जणणी (प्रा० पैं०)

मोर, मेरहु, मों, मेरा, मइ, तोरा, तोहोर, तोहार, ताक आदि सर्वनामों का पूर्वी अपभ्रंश में मिलना मुश्किल है। कीर्तिलता में तो 'जिसने' या 'जिन्होंने' का पूर्ववर्ती रूप 'जेन्ने' भी मिलता है।

८—*क्रियापदों का विकास*

किसी पद भाषा के विकास की सूचना उसके क्रियापदों के नाना रूपों से मिलती है। अवहट्ठ भाषा के विकास की क्या दिशा थी, यह भी इसके क्रियापदों को देखने से ही मालूम हो जाता है। वस्तुतः अवहट्ठ के क्रियापद वर्तमान भाषाओं के वाक्य-विन्यास की बहुत सी समस्याओं का सुलझाव उपस्थित कर सकते हैं।

(१) वर्तमान काल में कृदंत प्रयोग बढ़ गए। वर्तमान आर्य भाषाओं में गुजराती, हिंदी आदि में वर्तमान काल में कृदंत रूप का प्रयोग होता है। आज के 'ता' वाले रूप मध्यकाल के 'अन्तः' वाले रूपों से विकसित हैं जो प्राचीन अत् से विकसित हुआ है—ता < अन्तः < अत्।[१६]

अपभ्रंश के 'अन्त' प्रत्यय वाले रूप इस काल में प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए। कीर्तिलता, प्राकृतपैंगलम, थूलिभद्द फागु आदि में यह प्रवृत्ति चरम है। उदाहरणार्थ,

मधुर मेघ जिमि जिमि गाजन्ते
पंचवाण निज कुसुमवाण तिमि तिमि साजन्ते।
सीतल कोमल सुरभि वाय जिमि जिमि वायन्ते
मान मडफ्फर मानिनि तिमि तिमि नाचन्ते।

(थूलि० फागु, पृ० ५८)

परंतु लगता है ये रूप प्रायः अन्य पुरुष बहुवचन के ही होते हैं। कहीं-कहीं एक वचन के भी हैं, जैसे ऊपर के दो रूप साजन्ते, वायन्ते। हो सकता है कि इन प्रयोगों में एकवचन और बहुवचन का भेद न रह गया हो।

(२) भूतकालिक कृदंत भी वर्तमान की तरह प्रयोग में आते हैं। उनके प्रयोग दो प्रकार के होते हैं। कभी तो वे अपने पूर्ण रूप में होते हैं, जैसे कहअ, बांधअ आदि; कभी केवल धातु मात्र ही रहते हैं। पुरानी हिंदी में ये दोनों रूप तुलसी और जायसी में पर्याप्त मिलते हैं। पूर्ण रूप में, यथा—

१. काहु होअ अइसनो आस (कीर्तिलता, पृ० ३८)।
२. वाँटत मिलल महासुख साँगा (चर्या० ८)।
३. खणह न छाडअ सुसुक अहेरी (चर्या० ६)।
४. हरिणी बोलअ सुनु हरिणा तों (चर्या० ६)।
५. मूसा करअ अचारा (चर्या० २१६)।

१६—पिशल, ग्रैमेटिक, § ५६२

दूसरे प्रकार के रूप मूलतः धातु रूप में ही होते हैं पर वे वस्तुतः भूत कृदंत के ऊपर कहे रूपों के ही बिगड़े आकार हैं। यथा—

चलि चूअ कोइल साव महु मास पंचम गाव।

मण मज्झ वम्मह ताव ण हु कंत अज्जवि आव। (प्रा० पैं० ८७)

कीर्तिलता में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जिन्हें देखा जा सकता है।

(३) वर्तमान के तिङंत रूपों में अंत में 'इ' के स्थान पर 'ए' कर देते हैं। यह प्रवृत्ति बहुत प्रचलित है। यथा—

कंपए (प्रा० पैं०, ३७२।४) दीसए (प्रा० पैं०, ३००।३)

कोहाए (कीर्ति०, पृ० ४०) पाए (कीर्ति०, पृ० ४०)

(४) इसी काल में कृदंत के वर्तमान काल के रूपों के साथ सहायक क्रिया लगाकर भी रूप बनने लगे। यह प्रवृत्ति पीछे तो आर्य भाषाओं में से कई में बहुत प्रबल दिखाई पड़ती है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के अपभ्रंश ग्रंथों में, जैसा कि तेसीतोरी ने अपने निबंध में दिखाया है, संयुक्त क्रियाओं के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।[१७] वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता आदि में भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं—

१. गोमेदक पारी चारिहु दिश छललि अछ। (वर्ण०)

२. इंद्रनील क साठि पद्मराग चक्र हिमालय क पुरुष अधिष्ठान वइसल अछ।(वर्ण०)

३. खिसियाय खाण है। (कीर्तिलता, पृ० ४०)

४. आवत हुअ हिंदू दल गमनेन। (कीर्ति०)

५. सहहि न पारइ। (कीर्ति० ६०)

(५) भूतकाल की क्रियाओं में भी परवर्ती अपभ्रंश काल में बहुत से नए रूप दिखाई पड़ते हैं।

(क) भूत कृदंत का भूतकाल की सामान्य क्रिया के रूप में प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। वर्तमान हिंदी में भूत कृदंत प्रायः आकारांत रूपों में दिखाई पड़ते हैं—देखा, खाया, गया, बिका आदि। भूत कृदंतों को अकारांत से आकारांत करने की प्रवृत्ति अवहट्ठ काल में जोरों से चल पड़ी। कीर्तिलता, प्राकृतपैंगलम् तथा अन्य ग्रंथों में इसके रूपों का बाहुल्य है। यथा—

१. अंबर मंडल पूरीया। २. पअ भरे पाथर चूरीआ। (कीर्ति०, पृ० ४६)

३. सेना संचरिआ। (कीर्ति०, ८०)

१७—तेसीतोरी, इंडियन एंटिक्वेरी, १९१६

४. अइ आइ हत्थ णवेंद विरम्मि दिज्जिआ।

६. गुरु एक्क काहल वेवि अंतह किज्जिआ ॥ (प्रा० पैं० ४८६)

इसमें स्त्रीलिंग में रूप हिंदी की तरह बदलते हैं—"देखिये लगी जही यही कही" (प्रा० पैं० ३४५।३)। ऐसे रूप ही सरलीकृत होकर वर्तमान खड़ी बोली के भूतकालिक क्रिया के सामान्य रूप की तरह व्यवहृत होते हैं। उदाहरण के लिये 'विक्किआ' क्रिया का रूप 'विका' हो जायगा। यह 'बिका' रूप भी कीर्तिलता में मिलता है—"चांदन का भूल्य ईंधन बिका"। ये रूप छंदानुरोध के कारण पादांत दीर्घीकरण की प्रवृत्ति के दिखाई पड़ते हैं, पर बीच में भी मिलते हैं।

(ख) भूत कृदंत रूपों से कभी-कभी स्वार्थे 'क' लगकर थाकिउ, उद्धरिउ आदि रूप बनते हैं। ये रूप सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण अ, उ के योग से थाक्यो, उद्धर्यो, करो, गयो आदि रूपों में बदल जाते हैं। कहना न होगा कि ब्रजभाषा के भूतकाल में इस प्रकार के रूपों का आधिक्य है। नीचे अवहट्ठ की रचनाओं से उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं—

१. आओ पाउस फीलंताए। (प्राकृतपैंगलम्, ५१६।४)

२. जसु आइ हत्थ विआणिओ।

३. तह वे पओहर जाणिओ। (प्रा० पैं० ४००।१)

६—*निर्विभक्तिक प्रयोग*

अवहट्ठ की सबसे बड़ी विशेषता उसका निर्विभक्तिक प्रयोग है। निर्विभक्तिक प्रयोग अवधी, ब्रज आदि में प्रचुरता से मिलते हैं। ये प्रयोग अवहट्ठ काल से ही आरंभ हो गए थे। निर्विभक्तिक पदों के कारण कभी-कभी अर्थ करने में शब्दों के स्थानों की नियोजना में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ होने की संभावना रहती है। इसीलिये प्राकृतपैंगलम् के टीकाकार ने निर्विभक्तिक प्रयोगों से भरी अवहट्ठ भाषा में पूर्वनिपातादि नियमों के अभाव के कारण उत्पन्न गड़बड़ी को दूर करने के लिये यथोचित योजना कर लेने की सलाह दी है—अवहट्ठ भाषायां पूर्वनिपातादिनियमाभावात् यथोचित योजना कार्या सर्वत्रेति बोध्यम्।[१८]

नीचे निर्विभक्तिक प्रयोगों के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

१. केतकि महमहंत परिमल विहसावइ। (धूलि०)

१८—प्राकृतपैंगलम्, पृ० ४७८

२. भुवन जागर तुम्ह परताप। (कीर्ति०)

३. मकरंद पाण विमुद्ध महुअर सद्द मानस मोहिआ।

इन पदों में कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण आदि की विभक्तियों का लोप स्पष्ट ही है।

ऊपर जितनी विशेषताएँ कही गई हैं, यदि उनके प्रकाश में अवहट्ठ के दिए हुए उद्धरणों की पूर्ववर्ती अपभ्रंश से तुलना की जाय तो अंतर बहुत ही स्पष्ट हो जाता है। नीचे पुरानी अपभ्रंश भाषा के कुछ दोहे और अवहट्ठ के कुछ पद दिए जा रहे हैं—

(१) सत्यसरण वियाणियहं धम्मुण चढ़इ मणे वि।
दिणयर सउ जइ ज अग्गमइ घूयड अधड तोवि॥

(देवसेन, सावयधम्म दोहा)

(२) तणहं तइज्जी भंगि नवि ते अवडयडि वसन्ति।
अह जणु लग्गित उतरइ अह सह सई मज्जन्ति॥

ऊपर केवल दो दोहे दिए गए हैं। दोनों बहुत प्रसिद्ध दोहे हैं। इनकी विशेषताएँ स्पष्ट हैं। विभक्तियाँ सभी शब्दों में साफ हैं। उ का सार्थक प्रत्यय कई जगह लगा है। अपभ्रंश का यह परिनिष्ठित प्रयोग कहा जा सकता है। अब अवहट्ठ के पद देखिए—

(१) जिमि जिमि केतकि महमहंत परिमल विहसावइ।
तिमि तिमि कामिअ चरण लग्गि निय रमणि मनावइ॥ (थूलिभद्द फागु)

(२) तसु नन्दन भोगीसराय वर भोग पुरन्दर
हुअ हुआसन तेजि कन्ति कुसुमाउंह सुंदर
जाच्चक सिद्धि केदार दान पंचम बलि जानल
पियसख मण पियरोजसाह सुरतान समानल।
पत्ताये दान समान गुणें जे सव करिअउं शप्प वरा।
वित्थरिय कित्ति महिमंडलहिं कुंद कुसुम संकास जरा॥

इन उदाहरणों से भाषा का अंतर स्पष्ट हो जाता है। मूल ढाँचा वही है, किंतु विभक्तियों के घिस जाने, निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग होने तथा भाषा की अनावश्यक कठोरता को विकास देने से इसमें एक हल्कापन और लालित्य आ गया है।

प्राणि-नामों का ऐतिहासिक महत्त्व

[श्री देवीशंकर मिश्र]

फ्रैंसिस बेकन (Francis Bacon) ने अपने एक निबंध में कहा है—"काल के प्रलयकारी प्रभाव से—समय के विनाशकारी हाथों से—स्मारकों, नामों, शब्दों, लोकोक्तियों, परंपराओं, असार्वजनीन अभिलेखों एवं अंतःसाक्ष्यों, आख्यायिकाओं के अंशों, ग्रंथों के स्थलों तथा इसी प्रकार की अन्य सामग्री के रूप में हम कुछ तो बचा ही लेते हैं, कुछ का तो प्रत्युद्धार कर ही लेते हैं।"[1]

ठीक भी है, मानव जाति के प्राचीन इतिहास को अंधकार से प्रकाश में लाने के अपने प्रयत्न में आधुनिक इतिहासकार जिस सामग्री को आधार बनाकर आज आगे बढ़ रहे हैं वह विभिन्न प्राचीन जातियों की पौराणिक कथाओं, धार्मिक आख्यानों, पवित्र ग्रंथों, प्राचीन साहित्य तथा उनकी आदि भाषाओं के रूप में ही उपलब्ध है। प्राचीन आर्य-साहित्य देखने पर हमें उसमें अनेक प्राणियों के नाम तथा स्थान-स्थान पर उनके वर्णन भी मिलते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन प्राणि-नामों का कुछ कम महत्त्व नहीं।

आज हम इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि आर्याद्य भाषा परिवार[2] की

१—"Out of monuments, names, words, proverbs, traditions, private records and evidences, fragments of stories, passages of books and the like, we do save and recover some-what from the deluge of time."

—Francis Bacon, 'Essays' (प्रथमवार सन् १५६८ में प्रकाशित)

२—विभिन्न भाषाविदों ने इस भाषा-परिवार के लिये 'सिंधु-जर्मनीय' (Indo Germanic) परिवार, 'सिंधु-केल्टिक' (Indo-Celtic) परिवार, 'भारत-यूरोपीय' या 'भारोपीय' (Indo-European) परिवार, 'आर्य' परिवार, 'संस्कृत' या 'सांस्कृतिक' (Samskritic) परिवार, 'कॉकेशियन' (Caucasian) परिवार, 'जफ़ेटिक' (Japhetic) परिवार, आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया है। आज ये सभी नाम भाषाविदों के किसी-न-किसी समुदाय द्वारा विभिन्न कारणों से अपूर्ण, अव्यवहार्य अथवा अवैज्ञानिक

समस्त प्राचीन भाषाएँ किसी एक ऐसी प्राचीन भाषा से निकलीं जो ऋग्वेद-कालीन प्राचीन संस्कृति से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। उस आर्याद्य भाषा का वास्तविक स्वरूप क्या था और किस आधार पर उस भाषा में शब्दों का निर्माण हुआ अथवा होता था, इस विषय पर आज हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं, निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकते। ऐसा भी अनुमान होता है कि ऋग्वेद-काल से पूर्व की आर्याद्य भाषा परिवार की समस्त प्राचीन बोलचाल की भाषाओं में परस्पर नाम मात्र को बहुत थोड़ा प्रादेशिक भेद रहा होगा, जिस प्रकार हमें अवधी, कन्नौजी, भोजपुरी, बुंदेलखंडी तथा हरियानी में मिलता है। प्रश्न उठता है कि वह कौन-सा समय रहा होगा जब कि वे प्राचीन भाषाएँ परस्पर एक दूसरे से असंबद्ध होने लगीं अथवा—ऐतिहासिक भाषा में—इन भाषाओं को बोलनेवाले विभिन्न समुदाय पारस्परिक संपर्क से रहित विभिन्न स्वतंत्र जातियों के रूप में अलग-अलग प्रदेशों में बँटकर रहने लगे? इसके बाद ही इससे संबद्ध दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह सामने आता है कि वह समय कौन-सा रहा होगा जब इन स्वतंत्र जातियों की भाषाएँ एक दूसरे से बहुत-कुछ भिन्न हो चुकी होंगी और साथ ही स्वयं इतनी सामर्थ्यपूर्ण हो गई होंगी कि अपने लिये शब्दों का स्वयं निर्माण कर सकें? भाषामूलक प्राचीन शोध का बहुत-कुछ कार्य भाषाविज्ञान के अधीयानों द्वारा किया जा चुका है, परंतु यदि हम इस कार्य में प्राणिनामों की भी सहायता

माने जाते तथा उनकी आलोचना के विषय बन चुके हैं। आधुनिक भाषाविदों का मत यह है कि जातीयतासूचक नामों को हटाकर उनके स्थान पर अन्य उपयुक्त तथा स्वतंत्र नाम रक्खे जायँ। कुछ भाषावैज्ञानिकों द्वारा इस भाषा-परिवार के लिये 'वाइरोस'(wiros) या 'वीर' परिवार नाम भी प्रस्तावित किया गया है। 'वाइरोस' शब्द आंग्ल भाषा का 'वेर' (wer) शब्द है जो लैटिन का 'वीर' (vir), प्राचीन सैक्सन तथा प्राचीन साहित्यिक जर्मन का 'वेर' (wer), गॉथिक का 'वेइर' (wair), प्राचीन नॉर्स का 'वेर्र' (verr), प्राचीन आयरिश का 'फेर' (fer), लिथुआनियन का 'विरास' (vyras) तथा संस्कृत का 'वीर' है। इन सभी भाषाओं में ये शब्द 'मनुष्य', 'सैनिक' अथवा 'पति' के लिये आते हैं। लेखक का अपना विचार है कि इन सभी नामों से अधिक उपयुक्त नाम होगा 'आर्याद्य-भाषा' परिवार, जो कि आर्यों की उस आद्य भाषा की ओर संकेत करता है जिसकी इस परिवार की सभी प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाएँ विश्व के समस्त भाषावैज्ञानिकों द्वारा पुत्रियाँ, पौत्रियाँ अथवा प्रपौत्रियाँ स्वीकार कर ली जा चुकी हैं।

लें और साथ ही इस बात का भी पता लगाने का प्रयत्न करें कि विभिन्न देशों में लगभग एक-से ही नाम से पुकारे जानेवाले विभिन्न प्राणी मूल रूप से किस देश के निवासी हैं, तो संभवतः हमारी बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझ जायँ और साथ ही अनेक इतिहास संबंधी भ्रमों का भी निवारण हो जाय।

उदाहरण के लिये ऊँट नामक प्राणी को ही ले लीजिए, जिसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण (२।८; ३।३४), शतपथ ब्राह्मण (माध्यंदिन-शाखीय, १।२।३।९; ७।४।२।३५ तथा काण्वशाखीय, २।२।१।२२) तथा तांड्य ब्राह्मण (१।८।१२) में भी है और नारदपरिव्राजकोपनिषद् (५।१) तथा संन्यासोपनिषद् (२।५६) में भी। महर्षि वाल्मीकि ने अपने रामायण (सुंदरकांड, २७।२६-३०) में इस प्राणी का नामोल्लेख नीचे दिए हुए संदर्भ में किया है—

रावणस्य सुताः सर्वे मुण्डास्तैलसमुक्षिताः।
वराहेण दशग्रीव शिशुमारेण चेन्द्रजित्॥
उष्ट्रेण कुम्भकर्णश्च प्रयातो दक्षिणं दिशम्। इत्यादि॥

अर्थात् 'रावण के समस्त पुत्रों के शिर मुँडे हुए हैं और वे तेल का लेपन किए हुए हैं। रावण सुअर पर सवार है, मेघनाद सूँस पर और कुंभकर्ण ऊँट पर, और सब दक्षिण दिशा की ओर जा रहे हैं।'

'उष्ट्र' शब्द की व्युत्पत्ति √उष् धातु से है जो 'वध करने' या 'दहन करने' के अर्थ में आती है, और इसी कारण उपरिलिखित अवतरण में यह मृत्यु का सूचक बनकर आया भी है। ऐतिहासिक दृष्टि से उष्ट्र शब्द तो नहीं परंतु इसका पर्याय 'क्रमेल' अवश्य बड़े महत्त्व का है।[3] भारत से बाहर बोली जानेवाली भाषाओं

३—वैज्ञानिक दृष्टि से भी 'क्रमेल' शब्द बड़े ही महत्त्व का है। इसका एक अर्थ तो होता है 'ऐसा प्राणी जो क्रम से एलन करता हुआ चले (क्रमेण एलति यः स)'। एलन शब्द √इल् (क्षेपे = फेंकना) धातु से व्युत्पन्न है तथा एक विशिष्ट प्रकार की गति के अर्थ में आता है। इस गति का बहुत-कुछ अनुमान हम ऊँट पर बैठे हुए सवार के शरीर के हिलने-डुलने की गति से कर सकते हैं। अपने दूसरे अर्थ में 'क्रमेल' ऊँट की एक और विशेषता की ओर संकेत करता है। वह यह कि यह प्राणी एकदम से घुमाया नहीं जा सकता—नकेल खींचने पर यह चक्कर काटकर क्रम से थोड़ा-थोड़ा घूमता है (क्रमेण क्रामति)। केवल इतना ही नहीं, यह पीछे की ओर चल भी नहीं पाता (पश्चात् पराव-

को देखने पर हमें इस प्राणी के नाम के लिये लैटिन में 'कमेलुस', ग्रीक में 'कमेलोस', ऐंग्लो-सैक्सन तथा प्राचीन उत्तरी फ्रेंच में 'कैमेल', प्राचीन आंग्ल तथा प्राचीन फ्रेंच में 'चामेल', हिब्रू तथा फोनीशियन में 'गामाल', और अरबी में 'जमल' आदि शब्द मिलते हैं। देखना है कि 'क्रमेल' शब्द संस्कृत भाषा का स्वयं अपना शब्द है अथवा भारत में बाहर से आया ? एक बात तो निश्चित है कि 'क्रमेल' अथवा 'क्रमेलक' शब्द अब से कम-से-कम दो हजार वर्ष पूर्व तो भारत में था ही, क्योंकि 'अमरकोष' में यह अपने अन्य पर्यायों के साथ आता है—

उष्ट्रे क्रमेलकमयमहाङ्गाः करभः शिशुः।
करभाः स्युः श्रृङ्खलका दारवैः पादबन्धनैः॥

'पंचतंत्र' (१।४१४) में भी एक स्थान पर 'क्रमेलक' शब्द आया है—

भो ममाग्रेऽपि क्रमेलकहृदयं भक्षयित्वा अधुना मम मुखमवलोकयसि।

अर्थात् 'क्यों ! मेरे आगे ही ऊँट के हृदय को खाकर अब मेरा मुख ताक रहा है ?'

किसी अन्य कवि ने भी लिखा है—

प्रवीक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टकजालमेव।

अर्थात् 'क्रीड़ा करने के उद्यान में प्रवेश करके ऊँट वहाँ भी कोई कँटीला झाड़ ढूँढ रहा है।'

व्युत्पत्तिक दृष्टि से भी 'क्रमेल' अथवा 'क्रमेलक' शब्द भारत का ही है, क्योंकि इसका अर्थ होता है वह प्राणी जो क्रम से एलन (√इल क्षेपे) गति करता हुआ चले। भारतीय वैज्ञानिकों ने गति के आधार पर अनेक प्राणियों के नाम रक्खे हैं, जैसे 'भुजग' (भुजेन कौटिल्येन गच्छति इति), सरीसृप (कुटिलं सर्पति इति), हय (हयति, विशेषेण गच्छति इति), कपि (चलने; बालकों को कपि इसी लिये कहते हैं कि वे एक स्थान पर थोड़ी देर भी स्थिर होकर नहीं बैठ सकते), वायस (वयते, वय गतौ), श्वान (श्वयति गच्छतीति, श्वि गतौ) हंस

तिुं न शक्नोति), जब भी इसे पीछे ले जाना होगा तो क्रम से थोड़ा-थोड़ा घुमाकर ही। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि यह प्राणी सदैव उसी दिशा में आगे बढ़ेगा जिस दिशा में इसका मुख होगा, मुख से विपरीत दिशा में चल सकना इस प्राणी के लिये संभव नहीं रहता—कुछ तो शारीरिक बनावट के कारण और कुछ इसकी विचित्र प्रकृति के कारण।

(हन्ति सुंदरं गच्छति इति) आदि । स्वभावतः ही हमारी ऐसी धारणा बनती है कि 'क्रमेल' शब्द शुद्ध संस्कृत का है जो भारत में कहीं बाहर से नहीं आया, प्रत्युत भारत से बाहर गया और विभिन्न विदेशी भाषाओं में आज अपने विभिन्न परिवर्तित रूपों में पाया जाता है । और हमारी इस धारणा की पुष्टि हो जाती है जब हम देखते हैं कि आधुनिक ऊँट भारत का अपना प्राणी है, इसकी उत्पत्ति यहीं पर हुई और यहीं से यह बाहर अन्य पास-पड़ोस के देशों में गया । सेजविक महोदय लिखते हैं—"ऊँटों के प्राचीनतम अस्तित्वावशेष (Fossils) भारत के उत्तर-मध्यनूतन युग (Upper Miocene) के प्रस्तर-स्तरों में पाए जाते हैं" ।[४]

इस प्रकार यह भी सिद्ध सा हो जाता है कि क्रमेल नामक प्राणी भारत का अपना प्राणी है, यह भारत से ही विदेशों में गया और साथ ही लेता गया अपना 'क्रमेल' नाम भी । गया भी यह प्राणी भारत से बाहर उस समय, जब ऊँट के लिये

४—"Fossil species (of the genus *Camelus*) in upper Miocene of India."

—Sedgwick, Adam, M. A., F. R. S., 'A Student's Text-Book of Zoology', Vol II. p.587.

उधर लल (Lull, Richard Swann) महोदय अपनी पुस्तक ('Organic Evolution') में पृष्ठ ६१६ पर लिखते हैं कि—

"......we have the first recorded remains of it in the famous Siwalik formation (Lower Pliocene) of India."

अर्थात्, ऊँट के प्राचीनतम अभिलिखित अवशेष हमें भारत के प्रसिद्ध शिवालिक प्रस्तर-स्तरों में (अवर-अतिनूतन युग के) मिले हैं ।'

जिसका अर्थ यह हुआ कि ऊँट के अस्तित्वावशेष भारत में मध्यनूतन युग के नहीं, किंतु उसके बाद के अवर-अतिनूतन युग के प्रस्तर-स्तरों में पाए गए हैं । यही नहीं, पृष्ठ ६१३ पर दी गई सारणी में वे उसे उत्तर-अतिनूतन (Upper Pliocene) युग का अंकित करते हैं—संभवतः इस कारण कि वे उसे उत्तरी अमेरिका के अवर अतिनूतन युग के प्रस्तर-स्तरों में पाए जानेवाले प्रोकैमेलस (*Procamelus*, प्राक्क्रमेलक) का ही वंशज मानते हैं । वे कहते हैं कि वह बेरिंग स्थलडमरूमध्य (Bering Land-Bridge) से होकर अमेरिका से पुरानी दुनिया (Old world) में आया ।

'क्रमेल' नाम वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त मान लिया जा चुका था। वह समय कौन-सा रहा होगा, इसपर प्राचीन संस्कृत साहित्य के वे अंश पर्याप्त प्रकाश डाल सकते हैं जिनमें इस प्राणी के विभिन्न नामों का प्रयोग हुआ है। प्रतीत अवश्य ऐसा होता है कि उस समय तक भारत में आर्यों की सभ्यता का बहुत-कुछ विकास हो चुका था।

आर्यों की सभ्यता कितनी प्राचीन है इसपर विचार करने के लिये हम एक अन्य प्राणी के नाम की सहायता ले सकते हैं। यह प्राणी है घोड़ा, जो भारत का अपना प्राणी है। इस बात के वैज्ञानिक प्रमाण मिलते हैं कि इस प्राणी की उत्पत्ति — अधिक उपयुक्त होगा यदि हम कहें कि आधुनिक अश्व (*Equus*) की उत्पत्ति — भारतवर्ष में ही हुई और फिर यहीं से यह बाहर भी गया। सेजविक के लेखानुसार "आधुनिक अश्व जाति के प्राचीनतम अस्तित्वावशेष सबसे पहले भारतवर्ष में शिवालिक की पहाड़ियों के उत्तर-मध्यनूतन (? अतिनूतन) युग के प्रस्तर-स्तरों में पाए जाते हैं।"[५]

लल महोदय का विचार फिर इससे कुछ भिन्न है। उनके मतानुसार आधुनिक अश्व की उत्पत्ति उत्तरी अमेरिका में ही हुई जहाँ से वह दक्षिणी अमेरिका तथा यूरेशिया में फैला। उत्तरी अमेरिका तथा दक्षिणी अमेरिका में इसकी जाति किन्हीं अज्ञात कारणों से नष्ट हो गई, जब कि यूरेशिया में यह विकसित होता रहा। बाद में यूरेशिया से ही यह अफ्रीका तथा उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में ले जाया गया।

लल महोदय के मत का खंडन अथवा मंडन हमें यहाँ पर अभीष्ट नहीं। शिवालिक की पहाड़ियों में पाए गए आधुनिक अश्व के अस्तित्वावशेष प्राचीनतम होने के नाते यह तो बतलाते हैं ही कि अश्व भारत से ही अन्य देशों में गया। कब गया और कहाँ-कहाँ गया, इसी पर हमें विचार करना है।

भारतीय साहित्य में घोड़े के लिये अर्वा, अश्व, आजानेय, एतश, कर्क, किण्वी, कुंडी, कुदर, केसरी, क्रमण, क्रांत, गंधर्व, घोटक, चतुष्कर, चामरी, जवन,

---

५—"The genus (*Equus*) first appears in the Upper Miocene (? Pliocene) of India (Siwalik Hills)."

—Sedgwik, Adam, M.A., F.R.S., 'A Student's Text-Book of Zoology, Vol II, p. 587.

तुरग, तुरंग, तुरंगम, त्रुटि, दंड, पीती, पृष्ठ्य, प्रकीर्णक, प्रोथी, मापाशी, रथ्य, वाजी, वाँडव, वाडवेय, वातायन, वाह, वीती, शालिहोत्री, श्रीभ्राता, सप्ति, साधुवाही, सैंधव, स्थौरी, हय, हरि, हेषी, ह्वार्य, हंसास्य आदि लगभग पचहत्तर नाम आए हैं। इन समस्त नामों में एक सार्थक तथा प्राचीन नाम ह्वार्य (ह्वार्याणाम्) है जो ऋग्वेद में आया है। इस शब्द का संबंध √ह्वे धातु से प्रतीत होता है जो 'स्पर्धा' के अर्थ में आती है। हय (हयति गच्छति इति) वायु के वेग से स्पर्धा करता हुआ आगे बढ़ता है इसी कारण उसे यह संज्ञा दी गई है। आखेट का पीछा करने में तथा रणस्थल में इस प्राणी का उपयोग होता था, यह इसके नाम से ही सिद्ध हो जाता है। मिस्र देश की प्राचीन भाषा में भी हमें घोड़े के लिये 'ह्य' अथवा 'हय' शब्द का ही व्यवहार किया गया मिलता है। प्रश्न उठता है कि यदि विज्ञान की बात थोड़ी देर के लिये छोड़ दी जाय तो 'हय' शब्द तथा 'हय' नामक प्राणी, ये दोनों मिस्र देश से भारत आए अथवा भारत से मिस्र गए, इस विषय में इतिहास का क्या मत है ? इतिहास यह बतलाता है कि मिस्र देश में घोड़ा ईसा से लगभग ३००० वर्ष पूर्व कहीं बाहर से पहुँचा अथवा पहुँचाया गया था—उससे पहले वह वहाँ नहीं पाया जाता था। वीच (Weech, W. N.) महोदय लिखते हैं—"फाराओह खुफु के लिये जिगेह में बनाया गया महान् कोणस्तूप (Great Pyramid) लगभग तेरह एकड़ भूमि को घेरे हुए है। विभिन्न समाधि-भवनों तथा उन्हें परस्पर मिलाती हुई दीर्घाओं के अतिरिक्त शेष सारा-का-सारा कोणस्तूप ठोस बना हुआ है। उसे देखने से इस बात का आभास मिलता है कि उस युग के सम्राट् कितने अधिक शक्तिशाली होते थे तथा निम्न श्रेणियों के व्यक्ति कितने कठोर परिश्रमी होते थे; क्योंकि उन दिनों मिस्र देश में घोड़े का कहीं पता न था, और कहा यह जाता है कि इस महान् कोणस्तूप को बनाने में एक लाख आदमियों को बीस वर्ष तक काम करना पड़ा।"[६]

६—"The Great Pyramid, built at Gizeh for the Pharaoh Khufu, covers thirteen acres, and is solid, save for the various burial-chambers and their connecting passages. It is obvious how absolute was the power of the rulers of those days, and how hard-working were the

उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार अबसे लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व यदि घोड़ा मिस्र देश में कहीं बाहर से पहुँचा तो उसके लिये केवल दो मार्ग थे—एक तो यूरोप से और दूसरा भारत से। प्राणिनामों को ही आधार बनाकर चलने पर हम देखते हैं कि लैटिन में घोड़े को 'इकुअस', ग्रीक में 'हिप्पॉस', प्राचीन सैक्सन में 'एहु' अथवा 'ह्रोस', प्राचीन नॉर्स में 'जोर' अथवा 'ह्रॉस', प्राचीन आयरिश में 'एश', ऐंग्लो-सैक्सन में 'इओह्' अथवा 'होर्स', लिथुआनियन में 'अस्व', डच और प्राचीन साहित्यिक जर्मन में 'रोस', तथा फारसी में 'अस्प' संज्ञाएँ दी गई हैं। स्पष्ट है कि ये सभी शब्द संस्कृत के 'अश्व' शब्द से समानता रखते हैं। अब यदि अश्व यूरोप से मिस्र देश में जाता तो अपने साथ 'इकुअस' अथवा 'अश्व' से ही मिलता-जुलता अपना कोई नाम भी ले जाता, या फिर यदि मिस्र देश में पहुँच कर कोई सर्वथा नवीन तथा स्वतंत्र नाम धारण करता तो उस नाम का 'हय' से मिलता-जुलता होना सभी भाँति संभव तो न था। इससे प्रतीत यह होता है कि घोड़ा भारत से ही मिस्र देश में पहुँचा और फिर भारत से ही यूरोप में भी। विज्ञान भी इस बात की पुष्टि करता है जब वह निर्देश करता है कि आधुनिक अश्व भारत से ही अन्य देशों को गया अथवा ले जाया गया, जैसा कि हम पीछे देख आए हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय सभ्यता कम से कम मिस्र देश की सभ्यता के समकक्ष तो थी ही, और इस प्रकार वह यूरोप की सभी प्राचीन सभ्यताओं से पूर्व की है।[७]

इस ऐतिहासिक ग्रंथि को सुलझाने में हमें बिल्ली नामक प्राणी के नामों से भी बहुत-कुछ सहायता मिलती है। संस्कृत साहित्य में बिल्ली के लिये 'आखुभुक्',

---

lower classes. For the horse was then unknown in Egypt, and a hundred thousand men are said to have worked for twenty years on the building of the Great Pyramid."

—Weech, W.N., 'History of the World', pp. 39-40.

७—भारतीय सभ्यता मिस्र देश की सभ्यता से कहीं अधिक पूर्व की है तथा बैबीलोनिया की सभ्यता अथर्ववेद काल की सभ्यता है, इस विषय में लेखक ने विभिन्न इतिहासकारों के मत तथा अनेक प्रमाण अपने 'भारतीय सभ्यता की प्राचीनता' शीर्षक लेख में दिए हैं।

'ओतु', 'जिह्वाप', 'दीप्तलोचन', 'दीप्ताक्ष', 'नक्तंचरी', 'मायावी', 'मार्जार', 'मूषिकारौति', 'मेनाद', 'विडाल', 'वृषदंशक', 'शालावृक', 'सूचक' तथा इन्हीं से मिलते-जुलते लगभग बीस नामों का व्यवहार किया गया मिलता है। इन नामों में से एक भी नाम ऐसा नहीं है जो यूरोप की किसी भी भाषा में बिल्ली के लिये प्रयुक्त होनेवाले किसी भी शब्द से समानता रखता हो। ग्रीक भाषा में बिल्ली के लिये 'केट्टा', लैटिन में 'केट्टा अथवा 'केट्टस', तथा केल्टिक, स्लेवोनिक, ऐंग्लो-सैक्सन, फिनिश, प्राचीन उत्तरी फ्रेंच, मध्यकालीन आयरिश, वेल्श, यहाँ तक कि अरबी में भी इसके लिये 'कैट' अथवा इसी से मिलते-जुलते उच्चारण वाले शब्द प्रयुक्त होते हैं। 'कैटस' से मिलता-जुलता 'खट्टाश' अथवा 'खट्टास' शब्द यदि संस्कृत साहित्य में मिलता भी है तो वह बिल्ली से सर्वथा भिन्न एक अन्य वंश के प्राणी के लिये, जिसके अन्य नाम संस्कृत साहित्य में 'गंधमार्जार', 'गंधौतु', 'वनवासन', 'वनश्वा', 'वनाखु' तथा 'शालि' दिए गए हैं। ये विभिन्न नाम खट्टाश जाति के प्राणी के ही विभिन्न भेदों के लिये प्रयुक्त हुए हैं। यह प्राणी बिल्ली से सर्वथा भिन्न है जिसका तुंड चूहे के तुंड की भाँति आगे निकला होता है तथा शरीर लंबा और पैर छोटे होते हैं। फिर, बिल्ली जहाँ छोटे-छोटे पशु-पक्षियों का आखेट कर उन्हीं का आहार करती है वहाँ खट्टाश जाति के विभिन्न प्राणी अंशतः और कभी-कभी तो पूर्ण रूप से वनस्पतियों का ही आहार करते हैं। केवल इतना ही नहीं, खट्टाश जाति के प्राणी भारत के अपने प्राणी हैं जो यहाँ से बाहर गए—

"खट्टाश पूर्वी देशों में सभी-कहीं तथा अफ्रीका में पाए जाते हैं। अफ्रीका से ही इन्होंने दक्षिणी यूरोप में प्रवेश किया, परंतु इन प्राणियों के मूल निवासस्थान भारत तथा मलय देश ही प्रतीत होते हैं जहाँ इनकी जाति के सबसे अधिक भेद देखने को मिलते हैं। पूर्व-ऐतिहासिक काल में भारत में वास्तविक खट्टाश (Viverra) जाति के प्राणी रहते थे (जिनकी जाति का किसी अन्य प्राणिजाति के साथ मिश्रण नहीं हुआ था)। इन प्राणियों के प्राचीन अस्तित्वावशेष मद्रास की एक गुहा में तथा शिवालिक पहाड़ियों के प्रस्तर-स्तरों में पाए गए हैं।"[८]

८—"Civets are found all over the Oriental Region and in Africa, from whence they have passed into Southern Europe; but the head-quarters of the tribe appears to be

इससे यह सिद्ध हो गया कि यूरोपीय भाषाओं का 'कैटस' तथा भारतीय 'खट्टास' न तो एक ही प्राणी ही हैं और न एक ही प्राणी के लिये प्रयुक्त परस्पर किसी भी रूप में संबंधित प्राणिनाम ही। हाँ, 'सिवेट' तथा 'खट्टास' अवश्य एक-दूसरे से संबंधित हैं। दूसरी बात जो हमने देखी वह यह कि 'खट्टास' जाति के प्राणी यदि अफ्रीका पहुँचे तो भारत से ही, और फिर अफ्रीका से ही दक्षिणी यूरोप में प्रविष्ट होकर वहाँ फैल गए। यदि हम यहाँ कहें कि घोड़ा भी इसी प्रकार यूरोप पहुँचा, और इसी प्रकार बिल्ली भी—जैसा कि हम अभी देखेंगे—तो संभवतः उचित ही होगा।

बिल्ली भारत से पहले मिस्र गई और फिर मिस्र से यूरोप, इसके प्रमाण में पहली बात तो यही है कि इतिहासकार स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि बिल्ली यूरोप में ईसा की चौथी शताब्दी में मिस्र देश से पहुँची, और उस समय तक यूरोपीय परिवार की समस्त भाषाएँ इतनी समर्थ हो चुकी थीं कि नवीन प्राणियों के स्वतंत्र नाम दे सकें। यूरोप से होकर यह भारत नहीं आई, इसके प्रमाण में हम महाभारत (५।१५९।१६) में प्रयुक्त इसके 'मार्जार' नाम की ओर संकेत कर सकते हैं। महाभारत पाश्चात्य मतानुसार भी ईसा से कम-से-कम ३०० वर्ष पूर्व लिखा गया ग्रंथ है जब कि यदि बिल्ली यूरोप से होती हुई भारत आती तो ईसा की पाँचवीं शताब्दी से पहले नहीं आ सकती थी।

दूसरी बात यह कि मिस्र देश का इतिहास उठाने पर हम पाते हैं कि ईसा से पूर्व पाँचवीं सहस्राब्दी के मिस्र देशवासी अलग-अलग छोटी-छोटी अनेक टुकड़ियों में रहते तथा विभिन्न पशुओं को अपने-अपने वंश का देवता मानते थे। यही प्रवृत्ति हमें रामायणकालीन भारत की कुछ उन अर्धसभ्य जातियों में देखने

India and the Malay countries, where the largest number of species live. There were true civets (Viverra) living in India in pre-historic times. Their fossil remains have been discovered in a cavern in Madras and in the rocks of the Siwalik Hills."

—Salim Ali, 'The Book of Indian Animals', Bombay, 1950, p. 58.

को मिलती है जो मुख्यतया विंध्य गिरि के दक्षिण में रहती थीं।[९] बिल्ली को अपने वंश का प्रवर्तक माननेवाली जाति ने 'पसहृत' को बिल्लियों का देवता माना है। यह शब्द मिस्र देश की भाषा में 'पस' और 'अहृत' से मिलकर बना प्रतीत होता है। 'पस' का अर्थ होता है 'पति' अथवा 'प्रधान' और 'अहृत' का अर्थ 'बिडाल'

९—प्राचीन काल में लगभग सभी देशों में यह एक प्रथा सी थी कि विभिन्न जातियाँ प्रकृति के विभिन्न उपकरणों, विभिन्न प्राणियों तथा विभिन्न पौधों के नाम पर अपनी जातियों के नाम रखतीं, अपने को उनका वंशज मानतीं, तथा प्रायः उनके चित्र भी अपने शरीर की त्वचा पर किसी भी उपयुक्त स्थान पर उत्कीर्ण कराती थीं। प्राचीन भारत में जहाँ एक ओर सूर्यवंशी तथा चंद्रवंशी क्षत्रिय प्रसिद्ध हैं वहीं रामायणकालीन दक्षिण भारत की जातियों में ऋक्षवंशी तथा वानरवंशी योद्धा भी, जिन्होंने लंका-विजय में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचंद्र जी का साथ दिया था। यह भी संभव है कि राम की सेना के प्रसिद्ध योद्धा जांबवान् जिन्हें हमने अज्ञानवश ऋक्ष (= भालू) मान लिया है, अपने को ऋक्ष (= नक्षत्र-) वंशी माननेवाली किसी प्राचीन जाति के योद्धा रहे हों, क्योंकि 'ऋक्ष' का मूल अर्थ है 'नक्षत्र', जो संस्कृत 'ऋ' (गणेश, सूर्य, अदिति) से व्युत्पन्न है। इसी प्रकार भक्तश्रेष्ठ हनुमान जी भी आधुनिक काल के से बंदर नहीं प्रत्युत किसी प्राचीन वनचारी जाति के योद्धा प्रतीत होते हैं जिसने वानरों के किसी गुण—संभवतः चपलता पर मुग्ध होकर उन्हें अपने वंश का प्रवर्तक मान लिया। बिहार प्रांत के विद्वान् पंडित रामचंद्र द्विवेदी के मतानुसार बाली, श्रीकंठ, अंगद, हनुमान, नल, नील, द्विविद आदि वानर नहीं, प्रत्युत उस सेना के योद्धा थे जिसकी ध्वजा पर वानर का चित्र था तथा इसी कारण जो वानरी सेना कहलाती थी। हनुमान जी के विषय में आपका मत है कि चारों वेदों के ज्ञाता, व्याकरण के अगाध विद्वान् तथा शब्दशास्त्र के पारंगत एक ब्राह्मण-कुमार थे जिनके पिता का नाम पवन विद्याधर तथा पितामह का नाम प्रह्लाद विद्याधर था। वाल्मीकीय रामायण, किष्किंधाकांड, ३।२८-३३, १६।१२, २५।५८-५१; उत्तरकांड, ३४।६; बालकांड, १७।९; तथा गोस्वामी तुलसीदास जी के 'धरि बटु रूप देखु तैं जाई' से यह मत संगत भी प्रतीत होता है। नागवंश से भी तात्पर्य सर्पों के किसी विशेष वंश (Elapidae : Cobras) से नहीं प्रत्युत मानवों की ही एक प्राचीन जाति से है जिसने—कुछ विद्वानों के मतानुसार—अपनी सभ्यता का निशान जाकर माक्षिक प्रदेश (Mexico America) में फहराया। महामुनि शृंगी हरिण योनि से जन्मे कहे गए हैं। यहाँ भी हरिण का वास्तविक अर्थ हरिण नामक पशु नहीं, वरन् हरिण के

अथवा 'मार्जार'। आर्येय भाषा में संस्कृत 'ओतु' का रूप 'अहत' से अधिक भिन्न न रहा होगा, जैसा कि भाषाविज्ञान के नियमों से प्रतीत होता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मिस्र देश तथा भारत का संबंध उस समय का है जब कि दोनों की भाषाएँ परस्पर आदान-प्रदान करने में हिचकती न थीं। और यह समय अवश्य ही दोनों ही सभ्यताओं के विकास का प्रारंभिक काल रहा होगा।

फिर, मिस्र देश के प्राचीन निवासी बिल्ली को पूजते भी थे। बिल्ली के मिस्र देश में पूजे जाने का धार्मिक आधार क्या है, इस प्रश्न पर वहाँ की उपलब्ध प्राचीन कथाएँ कुछ भी प्रकाश नहीं डालतीं। दूसरा देश, जहाँ बिल्ली को उपयोगी जंतु मानकर उसके संरक्षण की ओर कुछ ध्यान दिया गया हो, भारत है। इस प्राणी को 'ओतु'[१०] की संज्ञा देना ही हमारी इस धारणा की पुष्टि करता

समान मनोहारी (हरति मनो हरिणः) तथा चपल, या हरिण को अपने वंश का प्रवर्तक माननेवाली कोई जाति प्रतीत होता है। ऐसा अनुमान होता है कि श्रृंगी ऋषि की माता अपने को हरिणवंशी माननेवाली किसी तत्कालीन प्राचीन जाति की कन्या थीं।

१०—संस्कृत की √अव् धातु रक्षण के अर्थ में प्रयुक्त होती है (अव रक्षणे)। बिल्ली चूहों से घर की रक्षा करती है (अवति गृहम् आखुभ्यः) इस कारण इसे 'ओतु' की संज्ञा दी गई। जैसा कि वैज्ञानिकों का कथन है प्रत्येक प्राप्तवयस्क चूहा अपने नन्हें-नन्हें पैने दाँतों से व्यर्थ ही कपड़ों, लकड़ी आदि के सामानों ,तथा पुस्तकादि को नष्ट करने के अतिरिक्त प्रतिवर्ष स्वयं जो कुछ खाता है उसे छोड़कर आजकल के हिसाब से लगभग पचहत्तर रुपए का अन्न खेती को कुतरकर नष्ट कर डालता है, जो कि एक स्वस्थ मनुष्य के भोजन के लिये लगभग छः मास के लिये पर्याप्त होगा। मेजर कुन्हार्ड (Major Kunhardt) ने अबसे लगभग पचीस वर्ष पूर्व, जब गेहूँ का भाव रुपए के सोलह सेर के हिसाब से था और उसी हिसाब से अन्य खाद्य सामग्री, कपड़े, लकड़ी का सामान आदि वस्तुएँ भी सस्ती थीं, ऐसा अनुमान लगाया था कि भारत में चूहों द्वारा की गई आर्थिक हानि प्रतिवर्ष लगभग बासठ करोड़ साढ़े बारह लाख रुपए तक की होती है। इस हानि का लगभग आधा तो उनके द्वारा खाए गए अथवा नष्ट किए गए अन्न आदि के कारण होता है और शेष आधा उनके द्वारा फैलाई गई महामारी के कारण अकाल ही काल के गाल में चले जानेवाले मनुष्यों तथा रोगी होकर काम करने के अयोग्य हो जानेवाले व्यक्तियों के कारण होनेवाली श्रम की हानि एवं महामारी से जनता को बचाने के उपायों में किए गए धन-व्यय के कारण होता है।

है। आगे चलकर तो इसका मारना पाप गिना जाने लगा और जनसाधारण के लिये यह एक व्यवस्था सी दे दी गई कि यदि मारने से बिल्ली मर जाय तो हत्याकारी पाप से मुक्ति तब तक नहीं पाता जब तक कि वह सोने की बिल्ली दान न करे। संभवतः जब मनुष्यों ने देखा कि चूहों की बढ़ती हुई संख्या को दाबकर रखनेवाला प्राणी बिल्ली ही है तो उन्होंने उसे पालना आरंभ किया, 'ओतु', 'आखुभुक्' तथा 'मूषिकाराति' की संज्ञाएँ दीं, और फिर उसके संरक्षण का उक्त प्रकार प्रबंध कर दिया; क्योंकि बिल्ली केवल चूहों पर ही नहीं, अपितु मनुष्यों द्वारा सँभालकर रक्खे गए दूध, दही, मलाई, मक्खन तथा मट्ठे आदि पर भी समय-असमय हाथ साफ कर दिया करती थी और परिणामस्वरूप यदा-कदा मनुष्य की झुँझलाहट का शिकार हो अपने जीवन तक से हाथ धो बैठती थी। इससे प्रतीत यह होता है कि व्यापारिक जलयानों द्वारा पहले तो भारत से चूहा मिस्र देश पहुँचा और फिर चूहों को दाबकर रखने के लिये वहाँ बिल्ली पहुँचाई गई। ले जाई गई बिल्लियों की संख्या अधिक न थी, अतः उनकी सुरक्षा के लिये उनकी पूजा करने, उन्हें पवित्र मानने तथा उन्हें किसी भी प्रकार की हानि न पहुँचाने का धार्मिक विधान बना दिया गया। बिल्ली को वहाँ के लोगों ने चंद्रमा की देवी माना और आगे चलकर तो उसकी मूर्तियाँ बनाकर पूजने भी लगे। इतना ही नहीं, कोणस्तूपों में बिल्लियों के परिरक्षित शव (Mummies) भी रक्खे जाने लगे जिससे वे मृत व्यक्ति के धान्य की रक्षा वहाँ भी करती रहें।[११]

११—प्राचीन मिस्र-निवासियों का यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य मरता नहीं है। इस सांसारिक मृत्यु के बाद भी उसका एक जीवन होता है जिसमें उसे अन्न-वस्त्र आदि से संबंधित सुख एवं सुविधाओं की आवश्यकता पड़ती है। इस कारण वे मृत व्यक्ति के शव को औषधियों द्वारा परिरक्षित कर तब समाधिस्थ करते थे और शव के चारों ओर मिट्टी के बरतनों में धान्य, पेय पदार्थ तथा मृत व्यक्ति के प्रिय अस्त्र-शस्त्र आदि रख देते थे। स्त्रियों की समाधियों में उनके परिरक्षित शव के साथ सौंदर्य-वृद्धि में प्रयुक्त होनेवाले अभ्यंजनादि भी रख दिए जाते थे। सम्राटों, अमात्यों तथा धनिकों की समाधियों पर कोणस्तूप बनाए जाते थे जिनमें मृत व्यक्तियों की सुविधा का ध्यान रखते हुए कक्षों (rooms) तथा दीर्घाओं (galleries) का निर्माण किया जाता था। कभी-कभी तो उनके परिरक्षित शवों के साथ न केवल जीवनोपयोगी सामग्रियाँ ही रक्खी

इसी प्रकार यदि हम अन्य प्राणियों को भी लें, विभिन्न देशों में पाए जाने वाले उनके नामों का तुलनात्मक अध्ययन करें, उनसे संबंधित उन देशों में प्रचलित कथाओं के मूल में छिपे हुए तथ्यों का उद्घाटन करने का प्रयत्न करें, उन प्राणियों के मूल निवासस्थान तथा संभावित प्रसार एवं वितरण के मार्गों का पता लगाएँ, तो असंभव नहीं कि भाषा, संस्कृति, सभ्यता तथा इतिहास से संबंधित हमारी अनेक ऐतिहासिक उलझनें सुगमता से सुलझ जायँ।

जाती थीं अपितु उनके प्रिय दास-दासियों को कत्ल कर उनके शवों को भी परिरक्षित करके समाधिस्थ कर दिया जाता था जिससे वे अपने स्वामी की सेवा वहाँ भी कर सकें। इन्हीं कोणस्तूपों में बिल्लियों के भी परिरक्षित शव मिले हैं।

विमर्श

जायसी कृत महरीबाईसी या कहरनामा

नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा खोज में उपलब्ध हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण (सन् १९२६-१९२८) सभा की हीरकजयंती के अवसर पर प्रकाशित हुआ है। यह लगभग आठ सौ पृष्ठों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण विवरण है जो उत्तर प्रदेश शासन द्वारा प्रदत्त दस सहस्र की सहायता के एक अंश से प्रकाशित किया गया है। शेष धन से इसी प्रकार के दो और त्रैवार्षिक खोज-विवरण प्रकाशित करने की सूचना ग्रंथ के आरंभिक वक्तव्य से प्राप्त होती है। इस प्रकार के खोज-विवरण प्रायः अंग्रेजी में प्रकाशित होते रहे। पहली बार सभा ने कालोचित परिवर्तन करके इस मूल्यवान् सामग्री को हिंदी में प्रकाशित किया है। हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज का कार्य यद्यपि लगभग पचास वर्षों से हो रहा है किंतु अब समय आ गया है जब उत्तर प्रदेश के समान अन्य राज्यों में भी जहाँ हिंदी भाषा का क्षेत्र है, इसी प्रकार का कार्य तुरंत सुव्यवस्थित ढंग से आरंभ हो जाना चाहिए। बारहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक हिंदी भाषा का जो विकास है उसकी अनेक खोई हुई कड़ियों को पुनः प्राप्त करने के लिये खोज में प्राप्त सामग्री ही एक मात्र उपाय है। नहीं कहा जा सकता कब कहाँ से कौन सा नया ग्रंथ उपलब्ध हो जाय और जो ग्रंथ पहले से विदित भी हैं उनके प्राचीन आदर्श मिल जायँ। हिंदी साहित्य के बृहत् विस्तार की अपरिमित सामग्री इन खोज-विवरणों में भरी हुई है। सभा के पास इस प्रकार के लगभग आठ त्रैवार्षिक विवरण और तैयार हैं जिनकी सामग्री लगभग छः सहस्र पृष्ठों की होगी। आशा है उत्तर प्रदेश शासन की सहायता से पुनः आरंभ किया हुआ प्रकाशन-कार्य आगामी पाँच वर्षों में समाप्त किया जा सकेगा।

प्रस्तुत विवरण के पृष्ठ चार सौ इकतीस पर मलिक मुहम्मद जायसी विरचित 'कहारानामा' ग्रंथ का परिचय दिया गया है। ग्रंथ का विवरण इस प्रकार है—

पत्र बारह, आकार ६ × ४ इंच, पंक्ति प्रति पृष्ठ ३६, प्राचीन पद्य, लिपि नागरी, लिपिकाल सं० १७७० (१८२७ ई०), प्राप्तिस्थान आनंदभवन पुस्तकालय, बिसवाँ, जि० सीतापुर।

इधर पद्मावत पर कुछ काम करने के कारण जायसी विरचित नए ग्रंथ का नाम पढ़कर कुतूहल हुआ। ग्रंथ के प्रारंभ (अथ कहारानामा लिष्यते) और अंत (इति श्री कहारानामा समाप्तम्) में ग्रंथ का नाम 'कहारानामा' दिया गया है। सौभाग्य से विवरण लेनेवाले अन्वेषक ने ग्रंथ के आरंभ की अठारह पंक्तियाँ और अंत की बीस पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। इन्हें डा० माताप्रसाद जी गुप्त द्वारा संपादित जायसी के अभिनव संस्करण के अंत में प्रकाशित (पृ० ७११–७२१) 'महरीबाईसी' ग्रंथ के साथ मिलाकर देखने से तुरंत यह विदित हो गया कि कहारानामा की प्राचीन प्रति महरीबाईसी की ही प्रति है। नामभेद होते हुए भी दोनों ग्रंथ एक हैं। श्री माताप्रसाद जी ने लिखा है कि महरीबाईसी की प्रति उन्हें लंदन के कौमनवेल्थ रिलेशन्स आफिस से प्राप्त हुई। हर्ष की बात है कि अवध में भी उसकी एक प्रति का अस्तित्व मिल गया, यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बिसवाँ के आनंदभवन पुस्तकालय में वह प्रति अभी तक सुरक्षित है या नहीं। पाठकों से निवेदन है कि यदि कहारानामा या महरीबाईसी की अन्य प्रति का पता लग सके तो कृपया मुझे सूचित करें।

पं० रामचंद्र जी शुक्ल ने पद्मावत के पहले संस्करण (१९२४ ई०) में जायसी-कृत पद्मावत के अतिरिक्त अखरावट का भी मुद्रण किया था। शुक्ल जी के दूसरे संस्करण (सं० १९९२) में जायसी का तीसरा ग्रंथ 'आखिरी कलाम' भी मुद्रित हुआ था। लगभग सत्रह वर्ष बाद डा० माताप्रसाद जी गुप्त ने अपने संशोधित संस्करण (१९५२ ई०) में जायसी के चौथे ग्रंथ महरीबाईसी को खोजकर प्रकाशित किया। जायसी के यही चार ग्रंथ अब तक उपलब्ध हैं।

सौभाग्य से पद्मावत की बहुसंख्यक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं जिनके आधार पर उस महत्त्वपूर्ण कृति का संशोधित प्रामाणिक संस्करण तैयार किया जा सकता था। हर्ष है कि श्री माताप्रसाद जी ने अत्यंत परिश्रम से इस कार्य को पूर्ण कर दिया है। उसका फल हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित जायसी-ग्रंथावली के रूप में हमारे सामने है। जायसी पर किए गए अब तक के कार्यों में गुप्त जी का कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है और उन्होंने अपने इस प्रामाणिक संस्करण द्वारा पद्मावत और अवधी भाषा का जो उपकार किया है वह अत्यंत श्लाघनीय है। इस प्रकार दूसरे संस्करणों की अपेक्षा सैकड़ों स्थलों पर इस संस्करण के पाठ भाषा और भाव की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं इसका परिचय किसी दूसरे लेख में दिया जायगा।

अखरावट और आखिरी कलाम की प्रतियों का एक प्रकार से अभाव ही है। जैसा श्री माताप्रसाद ने लिखा है, पं० रामचंद्र शुक्ल को इन दोनों ग्रंथों का उर्दू अक्षरों में मुद्रित एक-एक संस्करण मिला था, उन्हीं के आधार पर शुक्ल जी ने अपनी जायसी-ग्रंथावली में इन ग्रंथों के पाठ दिए थे। माताप्रसाद जी को भी इन ग्रंथों की कोई प्राचीन प्रति नहीं मिल सकी अतएव उन्हें भी वही पाठ रखना पड़ा। संशोधन की दृष्टि से इन दोनों ग्रंथों का पाठ अभी संतोषजनक नहीं हो सका है। हिंदी पाठकों से निवेदन है कि भविष्य में इन दो ग्रंथों की प्राचीन प्रतियों की सूचना मुझे या माताप्रसाद जी को देने की कृपा करें।

चौथे ग्रंथ महरीबाईसी के विषय में श्री माताप्रसाद जी ने लिखा है—"उपर्युक्त के अतिरिक्त खोज में मुझे जायसी की एक अन्य कृति मिली है, जिसे इस संस्करण में पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। यह है 'महरीबाईसी'। यह नाम मेरा दिया हुआ है, स्पष्ट नामोल्लेख कृति में नहीं है। केवल महरी गाने का उल्लेख कृति में जहाँ-तहाँ हुआ है, और इस कृति में कुल बाईस गीत हैं इसलिये यह नाम दे दिया गया है। संभव ही नहीं आशा भी है कि आगे की खोजों में इस कृति का ठीक नाम ज्ञात हो जावेगा।" (जायसी-ग्रंथावली, पृ० १०४)

बिसवाँ की नई प्रति से यह बात अब निश्चित हो जाती है कि जिसे गुप्त जी ने 'महरीबाईसी' नाम दिया था, उस कृति का मूल नाम जायसी के अनुसार 'कहारानामा' था, जैसा कि ग्रंथ के आदि और अंत में स्पष्ट कहा गया है। अन्वेषक ने जो अंत का अंश उद्धृत किया है उसमें अंतिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> कहरानामा भाषा कीन्हा जो गावै सो तरिहै रे।
> रामनाम परमारथ महिमा राखै पार उतारै रे॥

इससे ज्ञात होता है कि प्रतिलिपिकर्ता ने कहरानामा और कहारानामा दोनों नाम दिए हैं। किंतु ग्रंथ का मूल नाम संभवतः कहरानामा ही था। 'नामा' उत्तर पद फारसी का है। उसका पूर्व पद भी हिंदी से इतर भाषा का होना चाहिए, जैसे 'कूजानामा', 'रज्मनामा' इत्यादि, यह समझकर मैंने सोचा कि इसका मूल नाम 'क़हरनामा' था। किंतु श्री पुरुषोत्तमलाल ने निम्नलिखित सूचना भेजकर मुझे अनुगृहीत किया है—"इसमें कहरानामा का कहरा मूलतः वही शब्द मालूम होता है जो कबीर में भी आया है। बिरहुली, चौंतीसी आदि के साथ कबीर ने कहरा भी लिखा है। कहरा और कहरवा संभव है एक हों। कहरवा अवधी का एक गीत है।"

श्री पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी से जब मैंने इसकी जिज्ञासा की तो उन्होंने कबीर के कहरा से मेरा विस्तृत परिचय कराया और यह सम्मति दी कि जायसी का यह काव्य-रूप निश्चित वही है जिसे कबीर ने भी लिखा है। उनका यह भी अनुमान है कि यह काव्य-रूप और भी संत कवियों में मिलना चाहिए। कबीर ने बीजक ग्रंथ के अंतर्गत बारह पदों का कहरा लिखा है जिसमें दूसरे पद के अंत की दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

प्रेमबान इक सतगुरु दीन्हा गाढ़ो तीर कमाना हो।
दास कबीर कीन्ह यह कहरा महरा माहिं समाना हो॥

बीजक के टीकाकार महाराज राघवदास ने यहाँ कहरा का अर्थ जन्म-मरण रूप कहर या दुःख ही किया है। नाम के संबंध में यह प्रश्न बना रहता है कि कहरानामा में कहरा शब्द का संबंध कहार से है या कहर से। यह अनुसंधान का विषय है कि कहरा की धुन जो कबीर और जायसी में समान है, कहार जाति में विशेष रूप से पाई जाती है या नहीं और कहरवा संज्ञक अवधी गीत का कहारों से कहाँ तक संबंध है एवं उसकी धुन क्या है ? अपनी परिमित जानकारी के कारण इस प्रश्न पर मैं अभी कोई प्रकाश नहीं डाल सकता।

बिसवाँ की इस नई प्रति की सूचना पाकर श्री माताप्रसाद जी गुप्त ने अपने २६।४।५४ के पत्र में दो और नई प्रतियों की सूचना मुझे दी है—"बिहार के मनेरशरीफ स्थान में जायसी-ग्रंथावली की शाहजहाँकालीन प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका विवरण पटना कालेज के इतिहास-विभाग के प्रोफेसर अस्करी ने बिहार रिसर्च जर्नल के मार्च-जून १९५३ के अंक में प्रकाशित किया है। एक प्रति इनमें 'महरीनामा' की भी है। किंतु वह कदाचित् पूर्ण नहीं है। एक अन्य प्रति रामपुर की स्टेट लायब्रेरी में भी है।" उन्होंने यह भी लिखा है कि आगे यदि संभव होगा तो वे इन तीनों नई प्रतियों का उपयोग करके इस ग्रंथ का पुनः संपादन करेंगे। मनेरशरीफ और रामपुर की प्रतियों में ग्रंथ का नाम क्या है यह अभी ज्ञातव्य है।

—वासुदेवशरण अग्रवाल

चयन

श्री संपूर्णानंद जी का स्वागत-भाषण

विगत सौर फाल्गुन २२ सं० २०१० को राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद जी द्वारा नागरीप्रचारिणी सभा के हीरकजयंती समारोह के उद्‌घाटन के अवसर पर स्वागताध्यक्ष माननीय श्री संपूर्णानंद जी द्वारा दिए गए स्वागत-भाषण का मुख्यांश यहाँ उद्‌धृत है। तत्रभवान् राष्ट्रपति का सादर स्वागत करते हुए उक्त अवसर पर सभा में उनके पधारने के विशेष महत्त्व का उल्लेख कर माननीय श्री संपूर्णानंद ने कहा—

सभा का काशी में स्थापित होना भले ही देखने में आकस्मिक घटना-सा प्रतीत हो परंतु ऐसा कहना स्यात् अयुक्त न होगा कि इस आकस्मिक घटना के पीछे उस अज्ञात शक्ति की प्रेरणा थी जो राष्ट्रों और समुदायों के भविष्य का नियंत्रण करती है। यों तो हिंदी का संबंध मातृभाषा रूप से उत्तर भारत के बहुत बड़े भू-भाग से है और उत्तर प्रदेश उसका विशेष रूप से क्रीड़ा-प्रांगण रहा है, परंतु वाराणसी का हिंदी और उस संस्कृति के, जिसका कि हिंदी प्रतीक है, विकास में विशेष स्थान रहा है। यह नगर संस्कृत का प्रधान केंद्र है। आज भी यह संस्कृत का महाविद्यापीठ है जिसमें कई सहस्र विद्यार्थी संस्कृत पढ़ते हैं। संस्कृत का हिंदी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं से जो संबंध है उसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रदेश को बुद्धदेव द्वारा धर्मचक्र-प्रवर्तन और जैन तीर्थंकरों द्वारा धर्म के उपदेश सुनने और देखने का अवसर मिला है। आदि शंकराचार्य को यहाँ अपने वेदांत-ज्ञान की परीक्षा देनी पड़ी थी। यहीं कबीर, तुलसी और रैदास ने अपने अमर साहित्य की सृष्टि की थी। वह धारा आज भी अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित हो रही है। भारतेंदु हरिश्चंद्र, रामचंद्र शुक्ल, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', जयशंकर 'प्रसाद' और प्रेमचंद ने उस परंपरा को सजीव रक्खा और हमको विश्वास है कि आगे भी इस नगरी के द्वारा हिंदी की वैसी ही सेवा होती रहेगी। ऐसे वातावरण में पलने से निश्चय ही सभा को बल मिला। उसके साठ वर्षों का इतिहास वस्तुतः वर्तमान हिंदी का इतिहास है और अनेक विघ्न-बाधाओं के आघात होने पर भी वह इतिहास आशा और विजयोल्लास का इतिहास है।

सभा ने आरंभ से ही अपने क्षेत्र को विस्तीर्ण रक्खा। नागरी लिपि के साथ-साथ उसने हिंदी भाषा के प्रचार और प्रसार को अपनी कार्यावली में प्रमुख स्थान दिया और अपने सामने सतत यह लक्ष्य रक्खा कि हिंदी का वाङ्मय इस प्रकार सर्वांगपूर्ण बन जाय कि एक दिन यह भाषा देश की राष्ट्रभाषा बन सके। आप जैसे राष्ट्रनायकों के प्रयत्न से आज वह उद्देश्य सिद्ध हुआ है और देवनागरी में लिखी हुई हिंदी भाषा देश की राष्ट्रभाषा मान ली गई है। सभा ने अपने को राजनीति से सर्वथा अलग रक्खा इसलिये उसको सभी विचारों के माननेवालों का सहयोग प्राप्त हुआ और न केवल उत्तर प्रदेश वरन् उत्तर भारत के सभी प्रांतों और राज्यों में उसने लोकप्रियता प्राप्त की। आज देश में कई ऐसी संस्थाएँ हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में हिंदी की सेवा कर रही हैं। इन सबका किसी न किसी रूप में सभा से संबंध रहा है और सभा के कार्यकर्ताओं की तपस्या ने उसके कामों को सफल बनाया है। यह सभा के लिये बड़े ही संतोष की बात है।

यों तो हिंदी साहित्य का इतिहास आज से कई सौ वर्ष पीछे तक जाता है परंतु यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि अभी इस विशाल वाङ्मय का बहुत थोड़ा अंश प्रकाश में आया है। बहुत-सी पुस्तकें राजाओं, रईसों और विद्वानों के निजी पुस्तकालयों में पड़ी हैं। ये तो किसी प्रकार सुरक्षित भी हैं परंतु ऐसी पुस्तकों की भी बहुत बड़ी संख्या है जिनका अस्तित्व भी आज संकट में है। जिन लोगों की वे संपत्ति हैं वे उनके महत्त्व को नहीं जानते और इस बात का डर है कि वे सदा के लिये विलुप्त और विनष्ट हो जायँगी। सभा ने उत्तर प्रदेश की सरकार की सहायता से खोज का जो कार्य अपने ऊपर लिया था उसके द्वारा बहुत उपयोगी काम अब तक हुआ है परंतु जितना काम करना है उसके अंचल का अब तक स्पर्श भी नहीं हो पाया है!

हिंदी के राष्ट्रभाषा घोषित हो जाने से सभा का दायित्व बहुत बढ़ गया है। उसके कार्य की दिशा तो वही है परंतु प्रगति और तीव्र हो जानी चाहिए, अन्यथा आज से दस वर्ष पश्चात् राष्ट्रभाषा पद पर आरूढ़ होकर वह क्षमता के साथ अपना काम न कर सकेगी। उसके वाङ्मय को सभी शास्त्रों के उच्च कोटि के ग्रंथों से भरना है और उसको ऐसा विस्तीर्ण शब्दकोष देना है जिससे गंभीर वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारों की व्यंजना की जा सके और प्रशासकीय कार्यों में किसी भी रुकावट का अनुभव न हो। इस काम की उपादेयता तो सर्व-

सम्मत है। हमको इसमें कोई संदेह नहीं है कि इसका संपादन सफलता के साथ हो सकता है। हिंदी की आत्मा ने कभी ऐसे शब्दों का बहिष्कार नहीं किया जिनको लोकवाणी ने अपना लिया है, चाहे उन शब्दों का उद्गम कहीं भी हुआ हो। प्राचीन भारत के साहित्य से ऐसे बहुत से शब्द लिए जा सकते हैं जिनका व्यवहार आज से मिलती-जुलती अवस्था में होता था। दूसरे प्रदेशों से उपयुक्त शब्दों को लेने में हमको कोई सैद्धांतिक आपत्ति नहीं और नए शब्दों की रचना करने के लिये हमको संस्कृत का प्रबल आश्रय प्राप्त है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि इस काम के लिये पर्याप्त धन व्यय किया जाय और केंद्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों का सहारा मिलता रहे। हमको विश्वास है कि आपके नेतृत्व में इस ओर पूरा ध्यान दिया जायगा।

हिंदी में एक अच्छे कोष और व्याकरण की कमी बहुत खटकती है। सभा ने आज से कई वर्ष पहिले जो हिंदी शब्दसागर प्रकाशित किया था उसका बहुत विस्तृत संस्करण निकालने की आवश्यकता है। व्याकरण की आवश्यकता भी कम नहीं है। कोई जीवित और प्रगतिशील भाषा व्याकरण से बाँधी नहीं जा सकती, परंतु ऐसी भाषा, जिसके विकास का इतिहास कई सौ वर्षों तक गया हो और जिसमें रचे गए ग्रंथरत्नों ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की हो, उच्छृंखल भी नहीं छोड़ी जा सकती। इस बात की आवश्यकता है कि उदीयमान लेखकों को, जिनमें से कितने ही स्वभावतः ऐसे प्रदेशों के रहनेवाले होंगे जहाँ हिंदी का अभी थोड़े ही दिनों से प्रचार हुआ है, व्याकरण की सहायता दी जाय जिससे उनकी रचनाएँ इस भाषा की परंपरा से दूर न जा पड़ें। आज व्याकरण की जो कुछ पुस्तकें दीख पड़ती हैं वे अंग्रेजी व्याकरण के अनुरूप लिखी गई हैं। जिस देश ने पाणिनि, पतंजलि और कात्यायन को जन्म दिया हो जिनकी रचना मनुष्य के व्याकरण साहित्य में अद्वितीय मानी जाती हो, उस देश की राष्ट्रभाषा का व्याकरण प्राचीन परंपरा पर ही ढलना चाहिए।

मैंने हिंदी की आवश्यकताओं की ओर थोड़ा सा संकेत किया है। जो हिंदी भाषा की आवश्यकताएँ हैं वे सभा की आवश्यकताएँ हैं। नागरी लिपि के संस्कार की ओर तो देश के प्रशासकों का ध्यान गया है। अभी लखनऊ में उत्तरप्रदेशीय सरकार के प्रयत्न से जो लिपि-सुधार-संमेलन हुआ था उसका कार्य प्रत्येक हिंदी-प्रेमी के लिये और विशेषतः सभा के लिये, बड़े ही हर्ष का विषय है। हमारा साठ

वर्षों का प्रयत्न सफलता के पास पहुँचा है। हम आशा करते हैं कि लिपि में जो थोड़ी-सी और कमियाँ रह गई हैं उनकी ओर भी शीघ्र ध्यान दिया जायगा और जो लिपि सर्वसंमति से निश्चित होगी वह न केवल हिंदी लिखने के लिये प्रत्युत अन्य भारतीय भाषाओं को लिखने के लिये भी स्वीकृत होगी।

जहाँ तक भाषा और उसके वाङ्मय को परिपूर्ण करने की बात है, सभा इस काम के लिये पूर्णरूपेण तत्पर है। उसके सारे साधन इस कार्य के लिये राष्ट्र की सेवा में अर्पित हैं। हमारा आपसे विनम्र अनुरोध है कि आप हमारी इस भेंट को स्वीकार करें।

आज से कुछ महीनों पहिले उत्तरप्रदेश के राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने कहा था कि सभा ने जो काम उठाया था उससे दूसरी भारतीय भाषाओं के कार्यकर्ताओं को भी स्फूर्ति मिली थी। हमारा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि सभा के द्वारा भविष्य में भी हिंदी की जो सेवा होगी उससे दूसरी प्रादेशिक भाषाओं को भी लाभ होगा। हमारा ऐसा दृढ़ मत है कि राष्ट्रभाषा की उन्नति प्रादेशिक भाषाओं की पुष्टि का भी साधन होगी।

राष्ट्रपति का उद्घाटन-भाषण

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के हीरक जयंती समारोह का उद्घाटन करते हुए सौर फाल्गुन २२ सं० २०१० को तत्रभवान् राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद ने जो उद्घाटन-भाषण दिया वह अविकल रूप में यहाँ उद्धृत है—

विद्वज्जन, बहिनो और भाइयो,

नागरीप्रचारिणी सभा काशी के हीरक जयंती समारोह के उद्घाटनार्थ आपने मुझे निमंत्रित किया है, इसके लिये मैं आप लोगों का आभारी हूँ। मेरे संबंध में श्री संपूर्णानंद जी ने जो शुभ विचार प्रगट किए हैं वे उनकी उदारता के सूचक हैं। इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। मैं अपने-आपको हिंदी का विद्वान् नहीं मानता, किंतु हिंदी भाषा का प्रेमी और सेवक अवश्य हूँ और इसी नाते इस संस्था के हीरक जयंती समारोह में आपके साथ शरीक होने आया हूँ।

देवनागरी लिपि के प्रचार और हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये नागरीप्रचारिणी सभा ने गत साठ वर्षों में जो कुछ किया है वह किसी से छिपा नहीं; तो भी इसके इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालना अनुचित नहीं होगा।

१—काशी नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना १० मार्च, १८९३ को स्कूल में पढ़नेवाले कतिपय उत्साही छात्रों द्वारा हुई थी। इन छात्रों में सर्वश्री ठाकुर शिवकुमार सिंह, बाबू श्यामसुंदरदास और श्री रामनारायण मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। यही त्रिमूर्ति सभा की स्थापना से लेकर लगभग ५० वर्ष तक निरंतर किसी न किसी रूप में सभा की सेवा में लीन रही और यह सौभाग्य की बात है कि ठाकुर शिवकुमार सिंह के सत्परामर्श आज भी हमें उपलब्ध हैं।

२—सभा के पहले मंत्री श्री श्यामसुंदरदास हुए। दो आना मासिक चंदे से कार्य प्रारंभ हुआ और स्थापना के प्रथम वर्ष में ही इन मेधावी छात्रों के उद्योग से प्रभावित होकर सर्वश्री राजा रामपाल सिंह, महामना मदनमोहन मालवीय, काँकरौली नरेश, बालकृष्ण लाल, अंबिकाप्रसाद व्यास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीधर पाठक, डा० ग्रियर्सन आदि जैसे लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने इस सभा का सदस्य होना स्वीकार किया।

३—सभा ने अपने शैशव में ही नागरी लिपि और हिंदी भाषा को सरकारी अदालतों में स्थान दिलाने का आंदोलन खड़ा किया और महामना पं० मदनमोहन मालवीय के सक्रिय सहयोग से सन् १९०० में तत्कालीन उत्तर प्रदेश के सरकारी दफ्तरों और अदालतों में हिंदी भाषा और नागरी लिपि स्वीकृत हुई। इस कार्य के संपादन में जो प्रयत्न सभा के सदस्यों ने किया वह अध्यवसाय, लगन, उत्साह और राष्ट्रभाषा-प्रेम का अनुकरणीय आदर्श है।

४—हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाने के लिये दूसरा कार्य सभा ने हिंदी पुस्तकों की खोज का किया। सन् १८९४ में ही सभा के कार्यकर्ताओं का इस ओर ध्यान गया और उन्होंने देश की अन्य संस्थाओं तथा व्यक्तियों से संबंध स्थापित करके कई सहस्र पुस्तकें एकत्र कीं। इनमें अनेक नवीन पुस्तकें भी थीं जो हस्तलिखित रूप में उपेक्षित पड़ी थीं। बाद में युक्त प्रांत की सरकार से आर्थिक सहायता भी खोज संबंधी कार्य के लिये सभा को मिली और सन् १९०० से एक समिति बा० श्यामसुंदरदास के मंत्रित्व में बना दी गई। इस समिति के तत्त्वावधान में आठ वर्ष तक खोज संबंधी रिपोर्टें प्रकाशित होती रहीं जिसमें हस्तलिखित पुस्तकों का विवरण रहता था।

५—हिंदी पुस्तकों के संग्रह के लिये आर्यभाषा पुस्तकालय की स्थापना सभा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस समय भारतवर्ष में हिंदी पुस्तकों का इतना

समृद्ध दूसरा पुस्तकालय नहीं है। लगभग चालीस हजार पुस्तकें इसमें उपस्थित हैं। खोज संबंधी कार्य के लिये प्रतिवर्ष सैकड़ों अनुसंधानकर्ता यहाँ आते हैं।

६—सभा के प्रकाशन चार कोटि के हैं। वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दकोष सभा का महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। दूसरा प्रकाशन हिंदी शब्दसागर है जिसके निर्माण में सभा ने लगभग एक लाख रुपया व्यय किया। तीसरा हस्तलिखित तथा दुर्लभ पुस्तकों का प्रकाशन है जो साहित्य की अभिवृद्धि में अमित योग देता है। चौथा प्रकाशन मौलिक पुस्तकों का है, जिसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल, भगवानदीन, श्यामसुंदरदास आदि विद्वानों की पुस्तकें निकली हैं। दो ग्रंथमालाएँ सभा के तत्त्वावधान में चल रही हैं। इतिहास और पुरातत्त्व संबंधी पुस्तकों का इन मालाओं में प्रकाशन हुआ है।

७—'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' सभा का मुखपत्र है जिसमें गंभीर विषयों पर अनुसंधान तथा विवेचनापूर्ण शैली के निबंध तथा लेख छपते हैं। यह पत्रिका आर्थिक घाटा सहती हुई भी विगत अट्ठावन वर्षों से साहित्य की अभिवृद्धि में योग दे रही है।

८—हिंदी भाषा और साहित्य का देशव्यापी प्रचार तथा नवयुवकों में हिंदी के प्रति अनुराग उत्पन्न करने का जो कार्य प्रारंभिक पचीस-तीस वर्षों में सभा द्वारा संपन्न हुआ वह इस देश की अन्य कोई संस्था नहीं कर सकी। इस सभा की सेवा करनेवाले व्यक्तियों में एक ओर जहाँ भारतेंदु-युग से प्रभावित राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, बदरीनारायण चौधरी आदि थे वहाँ द्विवेदी-युग के प्रतिष्ठित लेखक सर्वश्री आचार्य रामचंद्र शुक्ल, मिश्रबंधु, भगवानदीन, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मदनमोहन मालवीय, गिरिधर शर्मा आदि विद्वानों ने सभा की पूर्ण मनोयोग से सेवा की।

सभा ने ऐसे समय कार्य आरंभ किया था जब हिंदी-प्रचार के लिये अनुकूल वातावरण नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में हिंदी-प्रचार का अर्थ अधिकारियों से संघर्ष और विपरीत परिस्थितियों से जूझना था। उस समय प्रोत्साहन के पूर्ण अभाव में नागरी-प्रचारिणी सभा साहित्य-सेवा और प्रचार का कार्य तत्परता से करती रही और इसकी सेवाओं का इतिहास अत्यंत उज्ज्वल और प्रशंसनीय रहा है।

मैंने कई बार पहले भी कहा है, जहाँ अहिंदी-भाषाभाषियों का यह कर्तव्य है कि राष्ट्रीय कार्य के लिये वे हिंदी सीखें, वहाँ हिंदीभाषियों पर भी कम से कम एक क्षेत्रीय भाषा सीखने का दायित्व आता है। इससे केवल अदला-बदली की भावना से अभिप्राय नहीं। ऐसा करने से ही हिंदी तथा दूसरी भारतीय भाषाएँ एक दूसरे के निकट आ सकती हैं। इन भाषाओं और हिंदी के बीच प्रतिस्पर्धा न पहले थी और न अब है।

हिंदी के लिये यह अवश्य गौरव का विषय है कि उसे भारतीय संविधान ने अखिल-भारतीय भाषा का स्थान दिया है। इससे हिंदीभाषियों और हिंदी से संबंध रखनेवाली सभी संस्थाओं का दायित्व बहुत बढ़ गया है। संविधान में हिंदी को यह ऊँचा स्थान दिए जाने का विशेष कारण यह था कि इसके जानने और बोलनेवालों की संख्या भारत की दूसरी भाषाओं के जाननेवालों और बोलनेवालों से कहीं अधिक है। उन भाषाओं का भी अपना गौरवपूर्ण साहित्य है और उनके बोलनेवाले अपनी भाषाओं के साथ प्रेम रखते हैं और उनपर गौरव करते हैं। इसलिये सभी ने हिंदी को जब यह स्थान दिया है तो यह समझकर नहीं कि उनकी अपनी भाषा किसी बात में कम है पर यह समझकर कि राष्ट्रीय काम के लिये हिंदी का ही प्रचार और प्रसार सुगम और सुलभ होगा। हिंदी को अखिल-भारतीय कामों के लिये प्रधानता देते हुए प्रांतीय भाषाओं को वहाँ के कामों के लिये प्रधानता दी गई है। इसलिये यह अनिवार्य है कि जहाँ हिंदी का प्रचार हो, साथ ही साथ प्रांतीय कामों के लिये वहाँ की स्थानीय भाषाओं को भी प्रोत्साहन दिया जाय और वे अपने सीमित क्षेत्र में अपना काम सुचारु रूप से करें। यह कहना भी शायद अनुचित न होगा कि हिंदी का हिंदीभाषी प्रांतों में तो वही स्थान होगा जो किसी भी प्रांतीय भाषा का अपने प्रांत में, पर अन्य-भाषाभाषी प्रांतों में सीमित काम और अखिल-भारतीय क्षेत्र में प्रायः सभी काम हिंदी द्वारा ही किए जायँगे।

हिंदीभाषियों का यह प्रयत्न होना चाहिए कि जिस सद्भावना से अहिंदी-भाषियों ने हिंदी को राष्ट्रीय कामों के लिये स्थान दिया है उसी सद्भावना के साथ वे हिंदी के प्रचार में तत्पर हों। हिंदी की किसी भी प्रांतीय भाषा से होड़ नहीं है। सच पूछिए तो हिंदीभाषियों को अन्य प्रादेशिक भाषाओं के पोषक और समर्थक होना चाहिए जिस तरह से अहिंदीभाषी हिंदी के पोषक और समर्थक होना चाहते

हैं। यदि कहीं भूल से भी हम हिंदीभाषियों के बर्ताव और भाषण से यह आभासित हुआ कि हिंदी अन्य सभी भाषाओं से अधिक समृद्ध, अधिक परिपुष्ट साहित्यवाली या प्राचीन तथा नवीन विचारों और भावों को व्यक्त करने में अधिक शक्तिशाली भाषा है और इसलिये इसको अधिकार है कि अखिल-भारतीय राष्ट्रीय कामों के लिये यह राष्ट्रीय भाषा मानी जाय, तो इसका फल यह होगा कि अन्य-भाषाभाषी हिंदी के प्रति ईर्ष्या करने लगेंगे और जो संविधान चाहता है वह काम पूरा नहीं हो सकेगा और हिंदी उस स्थान को प्राप्त नहीं कर सकेगी जो संविधान ने उसे देने का निश्चय किया है। दूसरे शब्दों में, हमें हिंदी का प्रचार नम्रतापूर्वक करना चाहिए।

मुझे यह कहते हुए बड़ा हर्ष होता है कि इस दिशा में नागरीप्रचारिणी सभा का दृष्टिकोण सदा से व्यापक और उदार रहा है। सभा के पदाधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं ने सदा ही अन्य भारतीय भाषाओं का समुचित आदर किया है। यह सभा की परंपराओं के अनुकूल ही है कि हीरक जयंती के उपलक्ष्य में जो प्रकाशन की योजना बनाई गई है, उसमें अन्य भारतीय भाषाओं की साहित्यिक प्रगति के सिंहावलोकन को भी स्थान दिया गया है।

हिंदी चिरकाल से ऐसी भाषा रही है जिसने शब्दों का उनके भिन्न देश अथवा भाषा में उद्गम होने के कारण बहिष्कार नहीं किया और सच पूछिए तो सभी जीती-जागती भाषाओं का यह एक गुण है कि वे अपने शब्द-भंडार को बढ़ाने में नहीं हिचकतीं चाहे शब्द किसी भी उद्गम के हों। अन्य भाषाओं का उनपर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता क्योंकि सभी जीती-जागती भाषाओं में आदान-प्रदान होता ही रहता है। इसलिये जब हिंदी को हम भारत के लिये एक सार्वभौम भाषा बनाना चाहते हैं तो प्रांतीय भाषाओं के शब्दों और मुहावरों के लिये दरवाजा खुला रखना चाहिए। मैंने कई ऐसे लोगों के लेख देखे हैं जो हिंदीभाषी नहीं हैं और जिन्होंने हिंदी का अभ्यास राष्ट्रीय कामों के लिये ही किया है और उनके लेखों में कुछ ऐसे शब्द और मुहावरे देखने में आए हैं जो अर्थ स्पष्ट कर देते हैं पर जो आधुनिक हिंदी में प्रचलित नहीं हैं। ऐसे शब्दों और मुहावरों को अन्य-भाषाभाषी अकसर व्यवहार में लाया करेंगे और हम हिंदीभाषियों को उनका स्वागत करना चाहिए न कि बहिष्कार। हिंदी सच्चे अर्थ में राष्ट्रीय भाषा तभी होगी जब भारत के सभी निवासी उस भाषा के साथ प्रेम करने लगेंगे और उसकी उन्नति में अपना गौरव मानने लगेंगे। यह भावना तभी उत्पन्न और परिपुष्ट हो सकती है जब वे यह

समझने लगेंगे कि हिंदी में उनकी भी कुछ अपनी देन है और हिंदी पर उनका भी कुछ अधिकार है। मैं समझता हूँ कि इस भावना का भी हमको स्वागत करना चाहिए और इससे नहीं डरना चाहिए कि हिंदी का रूप विकृत हो जायगा। मैं तो यह भी मानता हूँ कि कहीं-कहीं हमारे व्याकरण पर भी अहिंदीभाषियों का प्रभाव पड़ेगा और हमको उससे भी नहीं डरना चाहिए। इसलिये मैं चाहता हूँ कि हिंदीभाषी और हिंदी संस्थाएँ निस्पृह भाव से हिंदी की श्रीवृद्धि में लग जायँ जिससे अन्य-भाषाभाषी भी उसके विभिन्न प्रकार के साहित्य से परिचय पाने के लिये उसे सीखना आवश्यक समझें, जिस तरह आज कोई भी विद्वान् आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त करने के लिये यूरोपीय भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक समझता है। यदि केवल काव्य अथवा ललित कला संबंधी ग्रंथ ही यूरोपीय भाषाओं में होते तो हमको उन भाषाओं को सीखने की शायद आवश्यकता न भी होती, पर विज्ञान से परिचय के लिये उन भाषाओं का जानना अनिवार्य हो गया है। उसी तरह हिंदी इतनी समृद्ध होनी चाहिए कि आधुनिक विद्याओं को प्राप्त करने के लिये उसका जानना केवल पर्याप्त ही नहीं आवश्यक भी हो जाय तथा इस भाषा में मौलिक ग्रंथ भी लिखे जायँ जिनको पढ़ने के लिये हिंदी सीखनी अहिंदीभाषियों के लिये आवश्यक हो जाय। जितनी बड़ी संख्या हिंदी जानने और बोलनेवालों की है उतनी बड़ी संख्या संसार की दो ही तीन भाषाओं के बोलनेवालों की है। इसलिये यदि इतने लोगों में यह भावना उत्पन्न हो जाय कि वे हिंदी को वही स्थान संसार की भाषाओं में उपलब्ध कराना चाहते हैं जो किसी भी भाषा को प्राप्त है और उस उद्देश्य से हिंदीभाषी विभिन्न प्रकार की विद्याओं की प्राप्ति के लिये लग जायँ और हिंदी में विभिन्न विषयों पर मौलिक ग्रंथ लिखने लग जायँ तो केवल भारतवर्ष के ही अहिंदीभाषी नहीं, समस्त संसार के अहिंदीभाषी हिंदी सीखना आवश्यक समझेंगे। पर यदि हिंदी में इस तरह के साहित्य का निर्माण नहीं हुआ तो विदेशों की कौन कहे, इस देश में भी सब लोगों की दृष्टि में हिंदी को वह ऊँचा स्थान नहीं मिल सकेगा, चाहे संविधान के कारण सार्वदेशिक कामों में उसका उपयोग होने भी लग जाय। इसलिये मैं चाहता हूँ कि इस ऊँचे आदर्श को सामने रखकर हिंदीभाषी हिंदी का भंडार भरपूर करने में लग जायँ और जितनी तेजी के साथ और जितनी उच्च कोटि की पुस्तकें हिंदी में लिखी जायँगी उतनी ही उसकी प्रतिष्ठा और सर्वमान्यता बढ़ती जायगी।

हिंदी साहित्य के बहुतेरे ग्रंथ लुप्त होते जा रहे हैं। प्रचलित ग्रंथों के भी अधिकारयुक्त शुद्ध संस्करण हमेशा नहीं मिलते। आपने ऐसे ग्रंथों के शुद्ध संस्करण के प्रकाशन में बहुत काम किया है पर अभी भी बहुत काम बाकी है। मैं चाहूँगा कि इसके अलावा आधुनिक ढंग की पुस्तकें या ऐसी पुस्तकें भी लिखी जायँ जो अपने-अपने विषय में प्रामाणिक समझी जा सकें। विभिन्न विषयों के ज्ञाता और लेखक जो यहाँ मौजूद हैं उनसे मेरी प्रार्थना है कि अपने मौलिक विचारों को वे यथासाध्य हिंदी में ही प्रकाशित किया करें और यदि प्रचारार्थ वे यह आवश्यक समझें कि उनका अन्य भाषाओं में भी प्रकाशित होना आवश्यक है तो वे उनका अनुवाद भी प्रकाशित करें। जो मौलिक ग्रंथ अन्य भाषाओं में किसी भी विषय पर निकलते हैं उनमें से भी चुनकर अच्छे से अच्छे मौलिक ग्रंथों का अनुवाद प्रकाशित होना चाहिए। अंग्रेजी साहित्य का भंडार बहुत भरपूर है तो भी शायद ही कोई मौलिक ग्रंथ किसी भी यूरोपीय भाषा में ऐसा निकलता हो जिसका अनुवाद चंद महीनों के अंदर ही अंग्रेजी में प्रकाशित न होता हो। इस तरह अंग्रेजीभाषियों के लिये किसी दूसरी भाषा को जानना अनिवार्य नहीं है। पर वे अपने ज्ञान को और विस्तृत करने के लिये अन्य भाषाओं को भी सीखते हैं। उसी तरह हिंदी का स्थान भी ऐसा होना चाहिए कि केवल हिंदी जानकर ही हम संसार के विचारों से और गतिविधि से पूरी तरह परिचित हो सकें और इस परिचय-प्राप्ति के लिये सभी अन्य भाषाओं के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हिंदी में सुलभ हो जाने चाहिएँ। जिस तरह से नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी की सेवा आज तक की है उससे ऐसी आशा करना कि वह इस प्रकार के साहित्य के सृजन में महत्त्वपूर्ण काम करेगी, स्वाभाविक है, और मैं चाहूँगा कि विद्वान् तत्परता के साथ इस काम में लग जायँ। संविधान ने जो भार केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों पर हिंदी के संबंध में डाला है, सरकार उसे निभाएगी। विद्वानों का काम इस झगड़े में पड़ना नहीं है। जो लोग राजनीतिक क्षेत्र में काम कर रहे हैं वे जब जैसी आवश्यकता होगी सरकार के साथ मिलजुल कर अथवा दबाव डालकर हिंदी के लिये जो कुछ भी आवश्यक होगा करते और कराते रहेंगे। पर उनका काम तब तक अपूर्ण और अधूरा रहेगा जब तक कि हिंदी का भंडार अपूर्ण और अधूरा रहता है। इसलिये एक प्रकार से हिंदी के प्रेमियों को अपने कामों का बँटवारा कर लेना चाहिए। साहित्यिक लोगों के कामों में राजनीतिक लोगों का दखल देना बेकार ही

नहीं, हानिकर भी हो सकता है, पर उनकी सहायता और सहानुभूति तो आवश्यक है ही।

आपने कई प्रकार के काम अपने हाथ में लेने का निश्चय किया है। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि उसमें आप सफल हों। दो विषयों के संबंध में मैं आपको सूचना देना चाहता हूँ। आपने शब्दसागर का नया संस्करण निकालने का निश्चय किया है। जबसे पहला संस्करण छपा, हिंदी में बहुत बातों में और हिंदी के अलावा संसार में बहुत बातों में बड़ी प्रगति हुई है। हिंदी भाषा भी इस प्रगति से अपने को वंचित नहीं रख सकती। इसलिये शब्दसागर का रूप भी ऐसा होना चाहिए जो यह प्रगति प्रतिबिंबित कर सके और वैज्ञानिक युग के विद्यार्थी के लिये भी साधारणतः पर्याप्त हो। आपका यह भी निश्चय है कि प्राचीन ग्रंथों के संशोधित संस्करण प्रकाशित किए जायँ। मैं आपके निश्चयों का, विशेषकर इन दो का, स्वागत करता हूँ। भारत सरकार की ओर से शब्दसागर का नया संस्करण तैयार करने के सहायतार्थ एक लाख रुपए की सहायता जो पाँच वर्षों में बीस बीस हजार करके दी जायगी, देने का निश्चय हुआ है। इसी तरह से मौलिक प्राचीन ग्रंथों के प्रकाशन के लिये पचीस हजार रुपए की, पाँच वर्षों में पाँच पाँच हजार करके, सहायता दी जायगी। मैं आशा करता हूँ कि इस सहायता से आपका काम कुछ सुगम हो जायगा और आप इस काम में अग्रसर होंगे।

संप्रति सभा के सामने प्रमुख कार्य ये हैं—

क—प्रामाणिक पारिभाषिक शब्दकोष।

ख—विश्वविद्यालयों के उपयुक्त उच्च कोटि के साहित्य का सृजन।

ग—खोज द्वारा प्राचीन पुस्तकों को प्राप्त करके प्रकाशित करना।

घ—प्रांतीय भाषाओं के गंभीर साहित्य को हिंदी में अनुवाद करके प्रकाशित करना।

ङ—एक अनुसंधान-विभाग स्थापित करके साहित्य, राजनीति, इतिहास आदि के ग्रंथों का पुनरुद्धार और विभिन्न स्थानों पर जो शोध-कार्य हो रहा है उसका केंद्रीकरण और समन्वय।

९—लिपि-सुधार के लिये जो समिति बनी है उसके सुझावों को दृष्टि में रखकर नागरी लिपि को सुव्यवस्थित करने का कार्य नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा करना।

मुद्रण तथा टाइपिंग की आवश्यकताओं को देखते हुए नागरी लिपि में सुधार की ओर जनता और सरकार दोनों का ध्यान गया है। मुझे खेद है कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य के संपन्न होने में विलंब हो रहा है। मैं आशा करता हूँ कि केंद्रीय तथा उत्तरप्रदेशीय सरकारों के प्रयत्नों के फलस्वरूप हिंदी लिपि में जो कमियाँ हैं उनको यथाशीघ्र दूर कर दिया जायगा। इस प्रश्न पर विस्तृत रूप से विचार करने का और विभिन्न क्षेत्रों में रहनेवाले लोगों से विचार-विमर्श कर लेने का यह फल अवश्य होगा कि संशोधित लिपि सर्वसंमति से निश्चित हो सकेगी और वह सभी के लिये मान्य होगी। मेरा विचार है कि अन्य भारतीय भाषाओं के बोलने-वाले भी इन सुधारों से लाभ उठा सकेंगे।

हीरक जयंती के शुभ अवसर पर मैं नागरीप्रचारिणी सभा को हृदय से बधाई देता हूँ। किसी भी सार्वजनिक संस्था के लिये साठ वर्ष का व्यस्त तथा सचेष्ट जीवन गौरवपूर्ण समझना चाहिए। आपकी संस्था ने इस साठ वर्ष की अवधि में बहुत उथल-पुथल देखी है। यद्यपि आपकी संस्था पूर्ण रूप से साहित्यिक है, फिर भी इसकी कार्यप्रणाली पर देश की राजनीति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी यदि आप भाषा-प्रचार और अनुसंधान का कार्य सुचारु रूप से कर सके, इसका प्रमुख कारण सभा के कार्यकर्ताओं का भाषा-प्रेम और साहित्य के प्रति अनुराग ही कहा जा सकता है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि हिंदी भाषा के विकास तथा निर्माण में आपकी सभा ने गौरवपूर्ण भाग लिया है। मुझे पूरी आशा है कि अब परिस्थितियों के अनुकूल हो जाने पर, जब कि हिंदी-प्रचार का कार्य राष्ट्रीय महत्त्व का कार्य बन गया है, नागरीप्रचारिणी सभा और भी उत्साह के साथ कार्य कर सकेगी। हिंदी राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकी है, परंतु उसे अभी जनता द्वारा पालन-पोषण और साहित्यिकों द्वारा सेवा की अपेक्षा है। मैं आशा करता हूँ कि नागरीप्रचारिणी सभा तथा अन्य साहित्यिक संस्थाओं की चेष्टा से हिंदी भाषा और साहित्य का भंडार शीघ्र ही बहुत विपुल तथा व्यापक हो सकेगा, जैसा कि इस महान् तथा प्राचीन देश की राष्ट्रभाषा का होना चाहिए।

आपने जो मेरा सम्मान किया है, उसके लिये एक बार फिर मैं आप लोगों के प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूँ। मेरी शुभकामनाएँ तथा सद्भावनाएँ आप लोगों के साथ हैं और मुझे विश्वास है कि भाषा-प्रचार और साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में आपके सत्प्रयास सफल होंगे।

समीक्षा

तीर्थंकर वर्धमान—लेखक श्री श्रीचंद्र रामपुरिया, बी० काम०, बी० एल०। प्रकाशक हमीरमल पूनमचंद्र रामपुरिया, सुजानगढ़। पृ० सं० ५००; मूल्य ५)।

प्रस्तुत ग्रंथ में निर्ग्रंथ नाथपुत्र श्रमण भगवान् महावीर का जीवनचरित और उनके प्रवचनों का संग्रह है। यह संग्रह श्वेतांबर-परंपरा के मान्य आगमों के आधार पर किया गया है। 'महावीर पहिले ८२ दिन तक देवानंदा ब्राह्मणी के गर्भ में रहे, पीछे तिरासीवें दिन देवों ने गर्भ-परिवर्तन कर उन्हें त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ में रखा', यह गर्भापहरण का प्रसंग जन्मना जाति न माननेवाली श्रमण-परंपरा के अनुकूल तो है ही नहीं, वैज्ञानिक भी नहीं जँचता। परंपरा में इस घटना का रंच-मात्र भी आभास नहीं है। उनका विवाह तथा उनके पुत्री होने की वार्ता से भी दिगंबर-परंपरा सहमत नहीं है। हरिवंशपुराण से ऐसा आभास अवश्य मिलता है कि यशोदा से उनके विवाह की बात चली थी, पर कुमार वर्धमान कुमार-प्रव्रजित ही हुए थे। आवश्यकनिर्युक्ति से भी उनके कुमार-प्रव्रजित होने का ही समर्थन होता है। भगवान् महावीर का प्रस्तुत जीवनचरित लिखने में आधारभूत ग्रंथ और परंपरा श्वेतांबर संप्रदाय की है, यह उल्लेख स्वयं लेखक ने अपने प्राक्कथन में किया है। और इस आधार पर लेखक प्रस्तुत जीवन लिखने में सफल हुआ है। इसके पहिले मुनि श्री कल्याणविजय जी का 'श्रमण भगवान् महावीर' ग्रंथ संपूर्ण प्राचीन सामग्री से समृद्ध होकर निकल चुका है। उसके बाद इस ग्रंथ में यद्यपि कोई नई बात नहीं मिलती फिर भी अपने ढंग से, अपनी भाषा और योजना से, अपनी दृष्टि का प्रतिपादन करने में कुशल लेखक ने एक नयापन ला ही दिया है। आगमिक प्रवचनों का संग्रह यद्यपि श्री पं० बेचरदास जी द्वारा संपादित 'महावीर-वाणी' में हुआ था पर उनका शिक्षापद, निर्ग्रंथपद, दर्शनपद और क्रांतिपद के रूप में विभाजन रामपुरिया जी का अपना है। भगवान् महावीर की जन्मभूमि के संबंध में जो विचार प्रस्तुत किए गए हैं वे इसलिये विचारणीय हैं कि दिगंबर श्वेतांबर दोनों परंपराओं में महावीर का विदेह कुंडपुर में उत्पन्न होना स्वीकृत है। विदेह देश की राजधानी पहिले मथुरा में थी, पीछे वैशाली में आई। वैशाली भगवान् महावीर का मातृपक्ष था यह निर्विवाद है। वे विदेह जनपद के थे इसमें भी कोई

विवाद नहीं है। मगध के राजतंत्र का विदेह-वैशाली के गणतंत्र से विरोध था, यह भी इतिहाससिद्ध है। मगध और विदेह के बीच में गंगा थी, यह भौगोलिक स्थिति है। वर्तमान में जो बसाढ़ (मुजफ्फरपुर) में वैशालीगढ़ के अवशेष पाए जाते हैं तथा जो मुद्राएँ आदि उपलब्ध हुई हैं उनसे उसके वैशाली होने में कोई संदेह नहीं है। इस बसाढ़ के पास ही वासुकुंड ग्राम अवस्थित है जो बृहत् वैशाली का एक उपनगर या स्वतंत्र नगर भी हो सकता है। इसी के कुंडपुर या क्षत्रियकुंड होने की संभावना साधार भी है और प्राचीन उल्लेखों के अनुकूल भी। राजगृह के पास प्रचलित कुंडलपुर मगध देश के अंतर्गत है अतः वह स्थान तो वैदेहिक वैशालिक महावीर का जन्मस्थान नहीं हो सकता। अस्तु।

सांप्रदायिक और ऐतिहासिक गुत्थियों में मतभेद रखते हुए भी प्रस्तुत ग्रंथ महावीर की जीवन-झाँकी और उनके सांस्कृतिक प्रवचनों का रस देने के लिये उपयोगी है ही। श्री यशपाल जी ने अपनी भूमिका में भगवान् महावीर के आदर्शों का सुंदर खींचा है। ग्रंथ संग्रहणीय है।

तत्त्वसमुच्चय—संपादक डा० हीरालाल जैन। प्रकाशक भारत जैन महामंडल, वर्धा। पृ० २०४; मूल्य ३)।

किसी भी संस्कृति का पूर्ण दर्शन उसके आचार और विचार की परंपराओं में ही हो सकता है। जैन संस्कृति की आचारधारा तथा विचारसरणि में अहिंसा की ही प्राणप्रतिष्ठा है, यह सत्य इस ग्रंथ में संकलित प्राचीन गाथाओं से अच्छी तरह ज्ञात हो सकता है। डा० हीरालाल जी जैन-संस्कृति के अधिकारी विद्वान् ही नहीं हैं, उन्होंने अनेक प्राचीन प्राकृत-संस्कृत और अपभ्रंश के ग्रंथों का आधुनिक पद्धति से शुद्ध संपादन भी किया है। प्रस्तुत ग्रंथ में उन्होंने लोकस्वरूप, गृहस्थधर्म, मुनिधर्म, धर्मांग, कर्मसिद्धांत, स्याद्वाद, नय, निक्षेप आदि सभी सांस्कृतिक विषयों का प्रतिपादन करनेवाली गाथाओं का संकलन करके उनका हिंदी अनुवाद भी दिया है। प्राक्कथन में जैन धर्म, साहित्य और सिद्धांत का विवेचन भी तटस्थ भाव से किया गया है।

पुस्तक कालेजों और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में रखने योग्य तथा पुस्तकालयों के लिये संग्रहणीय है। छपाई-सफाई अच्छी है। इस सुंदर और समयोपयोगी ग्रंथ को प्रस्तुत करने के लिये लेखक और प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

—महेंद्रकुमार जैन

भारतीय शिक्षा—लेखक डा० राजेंद्रप्रसाद; प्रकाशक आत्माराम एंड संस, दिल्ली; १९५३ ई० । ड० डि० सोलहपेजी पृष्ठ संख्या ११६; कागज-छपाई आदि सुंदर । मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक में चार खंड हैं—नवीन शिक्षा-पद्धति, प्राचीन शिक्षा-पद्धति, वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति और प्रकीर्ण । इनमें भारत के वर्तमान राष्ट्रपति डा० राजेंद्र-प्रसाद के विभिन्न अवसरों पर दिए गए भारतीय शिक्षा संबंधी अठारह भाषणों तथा एक लेख का संग्रह है । इनसे राजेंद्र बाबू के शिक्षा संबधी विचारों की व्यापकता और उच्चता भली भाँति विदित होती है ।

राजेंद्र बाबू भारतीय जनता की जीवन-समस्याओं को गांधी जी की ही भाँति भारतीय जनता से एकाकार होकर देखते हैं । अतः उनके भारतीय शिक्षा संबंधी विचार भी गांधी जी के ही समान हैं । परंतु उन्होंने स्वतंत्र रूप से अनुभव और मनन कर वर्तमान समस्याओं के अनुरूप मौलिक ढंग से इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं । आधुनिक शिक्षा-पद्धति को वे सदोष मानते हैं । इसके फलस्वरूप भारतीय शिक्षितवर्ग में बेकारी तो बढ़ती ही जाती है, साथ ही शिक्षितों में अपने देश, समाज, भाषा, साहित्य एवं संस्कृति का अभिमान नहीं रह जाता । परिश्रम तथा ग्राम्य जीवन को वे तुच्छ समझते हैं । शिक्षण और परीक्षण की प्रणाली ऐसी है कि शिक्षक और छात्र का गुरु-शिष्य का-सा संबंध नहीं रह जाता, जिसके फलस्वरूप ही छात्रों में अनुशासनहीनता बढ़ रही है । विदेशी भाषा के माध्यम के कारण धन, श्रम और समय का घोर अपव्यय होता है । वर्तमान शिक्षा-पद्धति के स्थान पर राजेंद्र बाबू ऐसी शिक्षा-पद्धति चाहते हैं जिसमें ये दोष न हों, जो एक ऐसे भारतीय समाज के निर्माण में सहायक हो जो सत्य, अहिंसा और सहयोग-भावना के आधार पर प्रतिष्ठित हो और जिसमें कोई एक दूसरे का शोषण न करे, प्रत्येक अपनी जीविका अर्जन करने में समर्थ हो तथा प्रत्येक को मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की समान सुविधा हो । इस दृष्टि से शिक्षा में किस प्रकार के परिवर्तन अभीष्ट हैं, इस ओर राजेंद्र बाबू ने शिक्षाशास्त्रियों और शिक्षकों का ध्यान आकृष्ट किया है ।

शिक्षा-पद्धति में किसी भी प्रकार के परिवर्तन का तत्काल और प्रत्यक्ष प्रभाव देश के शिक्षाशास्त्रियों, शिक्षकों, छात्रों और जनता पर पड़ता है, अतः अभीष्ट परि-वर्तन के मार्ग की कठिनाइयाँ असाधारण हैं । यही कारण है कि गांधी जी, विनोबा

भावे, राजेंद्र बाबू, वल्लभ भाई जैसे महान् नेताओं के दृढ़ विचारों के बावजूद अभी तक आधुनिक शिक्षापद्धति पर उनका तत्त्वतः कोई प्रभाव नहीं पड़ सका है। बुनियादी तालीम के सफल प्रयोग वर्धा और बिहार में अवश्य हुए हैं, पर वे आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। शिक्षा में उस प्रकार का परिवर्तन तब तक संभव नहीं जब तक शिक्षाशास्त्रियों और शिक्षाधिकारियों की मनोवृत्ति में वैसा परिवर्तन न हो जाय। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक का शिक्षित-समाज में अधिक से अधिक प्रचार अभीष्ट है। यह प्रत्येक समझदार पाठक को शिक्षा संबंधी समस्याओं पर विचार करने के लिये विवश करेगी।

—सारस्वत

समीक्षार्थ प्राप्त

अद्भुत बालक (पद्य)—ले० श्री जगतनारायण लाल, प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, थियासाफिकल सोसायटी, बनारस १; सन् १९५३; मू० १॥)

अष्टछाप—संपादक एवं प्रकाशक श्री कंठमणि शास्त्री, संचालक, विद्याविभाग, कांकरोली; द्वि० सं०, सं० २००९; मू० ३)

आँखों में (कविता)—ले० श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी', प्र० आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली; सन् १९५२, मू० २)

आदर्श पत्रलेखन—ले० श्री यज्ञदत्त शर्मा एम० ए०; प्र० आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली; मू० ७॥)

आधुनिक कवि पंत (आलोचना)—ले० श्री कृष्णकुमार सिन्हा एम० ए०; प्र० नावेल्टी एंड कंपनी, चौहट्टा, पटना ४; मू० ४)

आपका मुन्ना द्वितीय एवं तृतीय भाग-ले० श्री सावित्री देवी वर्मा; प्र० आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली ६; सन् १९५३; मू० प्रत्येक भाग का ५)

आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व—ले० श्री सत्यव्रत सिद्धांतालंकार; प्र० विजय-कृष्ण लखनपाल, विद्याविहार, देहरादून; सन् १९५३; मू० ४)

आलोचना, इतिहास तथा सिद्धांत—ले० डा० एस० पी० खत्री; प्र० राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० ११)

इंसान की कहानी—ले० श्री मुल्कराज आनंद; प्र० राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० २॥)

उरुज्योति—ले० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; प्र० रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर; सं० २०१०; मू० ३)

उर्दू और उसका साहित्य—ले० श्री गोपीनाथ 'अमन'; प्र० राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० २)

एंशंट जैन हीम्स (अंग्रेजी)—संपा० शार्लट क्राउसे; प्र० सिंधिया ओरियंटल इंस्टीट्यूट, उज्जैन; सन् १९५२; मू० ५)

कविवर बिहारी—ले० स्व० श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'; संपा० एवं प्र० श्री रामकृष्ण एम० ए०, शिवाला, बनारस; सन् १९५३; मू० ६)

काव्यमय संगीत विज्ञान—ले० सर्वश्री भद्रसेन कुमार, सोहनलाल गुप्त; प्र० शांति पुस्तक भंडार, कनखल; सन् १९५३; मू० १)

गद्यपथ—ले० श्री सुमित्रानंदन पंत; प्र० साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद; सन् १९५३; मू० ३)

गाँवों की कहानियाँ—ले० श्री रामनिरंजन पांडे; प्र० हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद; सन् १९५४; मू० ॥)

गुरुदक्षिणा (कहानियाँ)—ले० श्री संतराम वत्स्य; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली; सन् १९५३; मू० ॥।)

चाबुक (कहानियाँ)—ले० श्री विनायकराव कोरटकर, विद्यालंकार; प्र० हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद; मू० १॥।)

चार के चार (कहानियाँ)—ले० श्री कमल जोशी; प्र० शुभ्रा प्रकाशन, २६ कंट्राक्टर्स एरिया, जमशेदपुर; सन् १९५३; मू० २॥)

चिनगारियाँ—ले० श्री ताराचंद एल० कोठारी, प्र० भारत जैन महामंडल, वर्धा; सन् १९५३; मू० ।=)

जलते तारे (कविता)—ले० श्री रघुवीरशरण 'मित्र'; प्र० भारतीय साहित्य प्रकाशन, २३२ सदर, मेरठ; सं० २०१०; मू० २॥)

तीर्थंकर वर्धमान—ले० श्रीचंद रामपुरिया, बी० काम, बी० एल०; प्र० हमीरमल पूनमचंद रामपुरिया, सुजानगढ़ (बीकानेर); वीर निर्वाण सं० २४८०; मू० ५)

थियासोफी के मूल सिद्धांत, भाग १—ले० श्री जिनराजदास, अनु० श्री रामचंद्र शुक्ल; प्र० आनंद प्रकाशन लि०, बनारस १; सन् १९५४; मू० १॥।)

दक्षिण के महापुरुष—ले० श्री राजकिशोर पांडे; प्र० हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद; मू० ॥)

द्रौपदी विनय—ले० श्री रामनाथ कविया; प्र० बंगाल हिंदी मंडल, ८ रायल एक्सचेंज, कलकत्ता; सं० २०१०; मू० ।।।)

धरती के गीत—ले० श्री जयशंकर त्रिपाठी; कुमुद मुद्रणालय, प्रयाग, सं० २००९; मू० १)

नई मानसिक चिकित्सा—ले० श्री लालजीराम शुक्ल, एम० ए०; प्र० काशी मनोविज्ञान शाला, बनारस; मू० १।)

निबंध संग्रह—ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० श्रीकृष्णलाल; प्र० साहित्यभवन लि०, प्रयाग; सन् १९५३; मू० ५)

नीलम की अंगूठी—ले० श्री विभूतिभूषण मुखोपाध्याय, अनु० एवं प्र० श्री रामकृष्ण, शिवाला, बनारस; सन् १९५३; मू० ४)

परेड ग्राउंड (उपन्यास)—ले० श्री हंसराज 'रहबर'; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ल; मू० १।।)

पर्दे के पीछे (आठ एकांकी)—ले० श्री उदयशंकर भट्ट; प्र० मसिजीवी प्रकाशन, नई दिल्ली; मू० २।।)

प्रभु यीशुमसीह—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस; सन् १९५२; मू० ।=)

प्राचीन भारतीय परंपरा—ले० श्री रांगेय राघव; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; सन् २९५३ मू० १२)

बदलती राहें—ले० श्री यज्ञदत्त शर्मा; प्रा० साहित्य प्रकाशन आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; मू० ३)

बापू की कहानियाँ—संग्राहक श्री व्योहार राजेंद्रसिंह; प्र० मानस मंदिर, साहित्य प्रेस, जबलपुर; सन् १९५३; मू० ।।)

बालकों की कहानियाँ—ले० श्री श्रीराम शर्मा; प्र० हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद; मू० ।।)

बालपद—ले० श्री वंशीधर विद्यालंकार; प्र० हिंदीप्रचार सभा, हैदराबाद; मू० ।।)

भगवान महावीर और उनका मुक्तिमार्ग—ले० श्री रिषभदास राँका; प्र० भारत जैन महामंडल, वर्धा; सन् १९५३; मू० ।=)

भारतीय संस्कृति—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस १; मू० ।।)

भावी भारत की एक तस्वीर—ले० श्री किशोरलाल मशरूवाला; प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर; सन् १९५३; मू० १)

भिक्षुणी (काव्य)—ले० श्री महेंद्रसिंह 'प्रेमघन'; प्र० कविकुटीर, बिलथरा रोड, बलिया; मू० १।।)

भूगोल के भौतिक आधार—ले० श्री रामस्वरूप वशिष्ठ; प्र० आत्माराम एंड संस दिल्ली ६; सन् १९५३; मू० ६)

भूदान यज्ञ—ले० श्री विनोबा भावे; प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, सन् १९५३; मू० १।)

मधु—ले० श्री यज्ञदत्त शर्मा; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; मू० ३)

मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ—डा० सावित्री सिन्हा; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; सन् १९५३; मू० ८)

मनोविज्ञान और जीवन—ले० श्री लालजी राशुक्ल एम० ए०; प्र० साहित्य सेवक कार्यालय, बनारस; सन् १९५१; मू० ५)

महर्षि वेदव्यास जी—ले० श्री जगतनारायणलाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस; सन् १९५१; मू० ।=)

महाकवि भूषण—ले० श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित; प्र० साहित्य भवन लि०, प्रयाग; सन् १९५३; मू० २।।)

महावीर वाणी—ले० श्री अ० बेचरदास दोशी; प्र० भारत जैन महामंडल, वर्धा; सन् १९५३; मू० २।)

मानस की रामकथा—ले० श्री परशुराम चतुर्वेदी; प्र० किताब महल, इलाहाबाद ३; सन् १९५३; मू० ३।।)

मैं भारतीय हूँ—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर बनारस १; सन् १९५१; मू० ।।)

रंजना (कविता)—ले० श्री अनुरागी; प्रकाशक अभिराम प्रकाशन, नौघरा, कानपुर; मू० ।।।)

रजवाड़ा—ले० श्री देवेशदास, आई० सी० एस०; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; सन् १९५३; मू० ५)

राजनैतिक कृष्ण—ले० तथा प्र० विश्वेश्वरदयालु वैद्य, बरालोकपुर, इटावा; सन् १९५२; मू० १।।)

राजसिंह चरित्र (काव्य)—ले० डा० केशरीसिंह बारहट; प्र० ओसवाल प्रेस, १८६ क्रॉस स्ट्रीट, कलकत्ता ७; सं० २०१०; मू० २॥)

रासलीला—ले० स्वामी विश्वेश्वरानंद गिरि; अनु० तथा प्र० श्री विश्वनाथ शास्त्री, १०२ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता ७; सं० २०१०, मू० ?

वंदना के बोल (कविता) - ले० श्री हरिकृष्ण प्रेमी; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; सन् १९५२; मू० २।)

वितस्ता की लहरें (नाटक)—ले० श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; सन् १९५३; मू० १॥)

विवेक और साधना—ले० श्री केदारनाथ; प्र० नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद; सन् १९५३; मू० ४)

शब्दों का जीवन—ले० श्री भोलानाथ तिवारी; प्र० राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० २)

शिवालक की घाटियों में—ले० श्री श्रीनिधि सिद्धांतालंकार; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; सन् १९५३; मू० ५)

श्री कृष्णचंद्र जी—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस १; १९५३; मू० ।=)

श्री गुरु नानकदेव जी, श्री गौतमबुद्ध जी, श्री जगद्गुरु शंकराचार्य—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस १; मू० प्रत्येक का ।=)

श्रीमद्वैष्णव सिद्धांत रत्न संग्रह—संकलक तथा प्रकाशक श्री श्यामलाल हकीम, श्री धाम, वृंदावन; सं० २०१०; मू० २)

श्री महात्मा जरथुस्त्र जी—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस १; मू० ।=)

श्री मातुःसूक्तिसुधा—अनु० श्री जगन्नाथ वेदालंकार; प्र० श्री अरविंदाश्रम, पांडिचेरी; सन् १९५३, मू० ?

श्री रामानुजाचार्य, श्री वर्धमान महावीर जी—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस; मू० प्रत्येक का ।=)

श्रीवृंदावनमहिमामृतम् (प्रथम-द्वितीय शतक, तथा तृतीय-चतुर्थ शतक)—सं० तथा प्र० श्री श्यामलाल हकीम, श्री धाम, वृंदावन; मू० क्रमशः ॥), ॥=)

सच्ची नागरिकता—ले० श्री मनरो लीफ; प्र० राजकमल प्रकाशन लि०, बंबई; १६५३; मू० १।।।)

सर्वधर्मसमन्वय—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस १; मू० ।=)

सौंदर्यशास्त्र—ले० डा० हरद्वारी लाल शर्मा; प्र० साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद; १६५३; मू० ३)

हजरत मुहम्मद साहब—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस १; मू० ।≈)

हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव—ले० श्री मन्मथराय; प्र० साहित्यभवन लि०, इलाहाबाद; सन् १९५३; मू० २।।)

हमारे गाँवों का पुनर्निर्माण—ले० गांधी जी; प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; सन् १९५३; मू० १।।)

हिंदी कहानियों की शिल्पविधि का विकास—ले० डा० लक्ष्मीनारायणलाल; प्र० साहित्यभवन लि०, इलाहाबाद; सन् १९५३; मू० १०)

हिंदी काव्य की प्रवृत्तियाँ—ले० श्री प्रभाकर माचवे, आदि; प्र० राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० २)

हिंदी के गौरव ग्रंथ—ले० श्री विपिनविहारी त्रिवेदी आदि; प्र० राजकमल प्रकाशन लि०, बंबई; मू० २)

हिंदी गद्य की प्रवृत्तियाँ—ले० श्री नलिनविलोचन शर्मा आदि; प्र० राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० २)

हिंदी साहित्य और साहित्यकार—ले० श्री सुधाकर पांडेय, एम० कॉम०, साहित्यरत्न; प्र० हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, बनारस; मू० १।)

विविध

वाल्मीकि रामायण के तीन पाठ

नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५८, अंक १-२, पृष्ठ १ से ३५ तक मेरा उक्त लेख प्रकाशित हुआ है। हाल के अध्ययन के फलस्वरूप मुझे उसमें कुछ संशोधन एवं परिवर्धन करने पड़े हैं, जो निम्नलिखित हैं। कृपया पाठक उन्हें यथास्थान अंकित कर लें। संशोधित और परिवर्धित अंशों में भेद करने के लिये परिवर्धित अंशों के पहले तारक-चिह्न लगा दिए गए हैं।

पृ० ९ सं० ३४—राम वनगमन के पूर्व अपनी माता को अपने पिता दशरथ के हाथों सौंप देते हैं। यह प्रसंग तीनों पाठों में पाया जाता है (दा० ३८।१३-१४); किंतु गौड़ीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठों का एक पूरा सर्ग दाक्षिणात्य पाठ में नहीं है (दशरथ-विलाप, गौ० ३४, प० ३७)।

पृ० १३ सं० ६५ अ—*गौड़ीय पाठ (२३।१८-२५) में इसका वर्णन किया गया है कि राम के निकट जाने के पूर्व शूर्पणखा ने काम उत्पन्न करने के उद्देश्य से एक मोहक रूप धारण कर लिया—

कामसुत्पादयिष्यामि रूपेणान्येन कामिनी।

इस प्रकार का उल्लेख अन्य पाठों में नहीं मिलता।

पृ० १४ सं० ६७ अ—*पश्चिमोत्तरीय पाठ का एक पूरा सर्ग लक्ष्मण-विलाप (प० ७४) अन्य पाठों में नहीं है।

पृ० १४ सं० ६८ अ—*दाक्षिणात्य तथा गौड़ीय पाठों में लक्ष्मण यह आशंका प्रकट करते हैं कि कांचन मृग के रूप में कहीं मारीच न दिखाई दे रहा हो (दा० ४३, गौ० ४९)। लक्ष्मण की इस आशंका का पश्चिमोत्तरीय पाठ में उल्लेख नहीं है।

पृ० १५ सं० ७४ अ—*दाक्षिणात्य पाठ में ही लक्ष्मण कहते हैं कि मैं नूपुरों को छोड़कर सीता के अन्य आभूषणों को पहचानने में असमर्थ हूँ—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ॥ २२ ॥
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्। (किष्किंधाकांड, सर्ग ६)

पृ० १६ सं० ७८ अ—*गौड़ीय पाठ के अनुसार (गौ० ५।२३-३१) राम सीता के आभूषणों को देखकर राक्षसों को धमकाते हैं। यह प्रसंग अन्य पाठों में नहीं है।

पृ० १६ सं० १०३—दाक्षिणात्य तथा पश्चिमोत्तरीय पाठों में हनुमान क्रमशः मैनाक, सुरसा तथा सिंहिका से मुठभेड़ करते हैं। गौड़ीय पाठ के अनुसार क्रम इस प्रकार है - सुरसा, मैनाक, सिंहिका।

पृ० २५ सं० १३६—गौ० ८९ तथा प० ६१, दोनों में इसका उल्लेख मात्र है कि सुग्रीव ने विभीषण को ग्रहण करने में आपत्ति की। सुग्रीव का पूरा भाषण दा० १७।२०-२५ और १८।४-२१ में दिया गया है।

पृ० २७ सं० १४६ अ—*गौड़ीय (सर्ग १६) तथा पश्चिमोत्तरीय (उत्तर०, सर्ग १४) पाठों में इसका उल्लेख नहीं किया गया है कि शिव रावण को चंद्रहास नामक कृपाण प्रदान करते हैं (दा० १६।४३)।

—कामिल बुल्के, एस०, जे०

सभा के कार्याधिकारी और प्रबंधसमिति के सदस्य

गत सौर १६ वैशाख सं० २०११ को हुए सभा के इकसठवें वार्षिक अधिवेशन में निम्नलिखित सज्जन सभा के कार्याधिकारी और प्रबंध समिति के सदस्य चुने गए—

कार्याधिकारी

सभापति—डा० अमरनाथ झा। उपसभापति—(१) श्री गुरुसेवक उपाध्याय, (२) श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे। प्रधान मंत्री—डा० राजबली पांडेय। साहित्य मंत्री—डा० श्रीकृष्ण लाल। अर्थमंत्री—श्री मुरारीलाल केडिया। प्रकाशन मंत्री—श्री कृष्णानंद। प्रचारमंत्री—श्री करुणापति त्रिपाठी। संपत्ति निरीक्षक—श्री शुकदेव सिंह। पुस्तकालय-निरीक्षक—श्री श्रीशचंद्र शर्मा। आयव्यय-निरीक्षक—श्री मिश्र ब्रदर्स, बनारस।

प्रबंध समिति के सदस्य

(संवत् २०११-१३)

काशी—श्री बलदेव उपाध्याय, श्री गोविंदप्रसाद केजरीवाल, श्री सहदेव सिंह, श्री ठाकुर शिवकुमार सिंह, श्री चंद्रबली पांडेय। बंबई—श्री श्रीगोपाल नेवटिया। मध्यप्रदेश—श्री नंददुलारे वाजपेयी। राज्य—श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी। उत्तर प्रदेश—डा० संपूर्णानंद; राज्य—महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह, श्री शांतिप्रिय आत्माराम। सिंहल—श्री सत्यनारायण। मद्रास—श्री श्रीप्रकाश।

(संवत् २०११-१२)

काशी—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री दिलीपनारायण सिंह, श्री आचार्य नरेंद्रदेव, श्री सुधाकर पांडेय, श्री मोतीसिंह। उत्तरप्रदेश—श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री गोपालचंद्र सिंह। राज्य—श्री मोतीलाल मेनारिया, श्री मेघराज 'मुकुल'। दिल्ली—श्री अशोक। असम—श्री सर्वजीत। मैसूर—श्री ना० नागप्पा। सिंध—(स्थान रिक्त है)। विदेश—श्री ए० जी० शिरफ, श्री रैल्फ टर्नर।

(सं० २०११ के लिये)

काशी—डा० राकेश गुप्त, श्री सिद्धनाथ सिंह, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, श्री प्रतापनारायण सिंह, श्री देवीनारायण। बंगाल—श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या। उत्कल—श्री शिवराम उपाध्याय। उत्तरप्रदेश—डा० उदयनारायण तिवारी, श्री प्रभात मिश्र। राज्य—श्री विद्याधर शास्त्री। पंजाब—श्री जगन्नाथ पुष्करत। बिहार—श्री शिवपूजन सहाय। मध्यप्रदेश—डा० ओमप्रकाश।

—सहायक मंत्री

'पत्रिका की परिवर्तन-सूची, सं० २०१०

हिंदी

अदिति	पांडिचेरी
आगामी कल	खँडवा
आज (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	काशी
आजकल	दिल्ली
आर्थिक समीक्षा	नई दिल्ली
आर्य मार्तंड	अजमेर
आलोचना	इलाहाबाद
कर्मवीर	खँडवा
कल्पना	हैदराबाद (दक्षिण)
कल्पवृक्ष	उज्जैन
कल्याण	गोरखपुर
किशोर	पटना
जनवाणी	काशी
जीवन साहित्य	नई-दिल्ली
जैन सिद्धांत भास्कर	आरा
ज्ञानोदय	काशी
दीदी	प्रयाग
धर्मदूत	सारनाथ
नईधारा	पटना
नया समाज	कलकत्ता
प्राणिशास्त्र	लखनऊ
भारत (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	प्रयाग
भारती	नागपुर
भारतीय विद्या	बंबई
मरुभारती	बीकानेर
मध्यभारत संदेश	ग्वालियर
राष्ट्रभारती	वर्धा
राष्ट्रवीणा	अहमदाबाद
लोकमान्य	कलकत्ता
विशाल भारत	कलकत्ता
विश्ववाणी	प्रयाग
वीणा	इंदौर
वेंकटेश्वर समाचार	बंबई
वैदिक धर्म	औंध
व्रजभारती	मथुरा
शांतिदूत	काशी
शिक्षा	लखनऊ
शोध पत्रिका	उदयपुर
संगीत	हाथरस
सचित्र आयुर्वेद	कलकत्ता

समाज शास्त्र	वनस्थली, जयपुर
सम्मेलन पत्रिका	इलाहाबाद
सरस्वती	इलाहाबाद
सार्वदेशिक	दिल्ली
साहित्य	पटना
साहित्य संदेश	आगरा
सैनिक	आगरा
स्वतंत्र भारत	लखनऊ
हरिजन सेवक	अहमदाबाद

अँगरेजी

इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली	कलकत्ता
ईस्ट ऐंड वेस्ट	रोम (इटली)
एनल्स ऑव ओरिएंटल रिसर्च	मद्रास युनिवर्सिटी, मद्रास
एनल्स ऑव द भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट	पूना
एनल्स ऑव द श्री वेंकटेश्वर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट	तिरुपति
ऐनुअल बिब्लियाग्रफी ऑव इंडियन आर्क्यालाजी	लीडन (हालैंड)
जर्नल ऑव दि इंडियन हिस्ट्री	त्रिवेंद्रम
जर्नल ऑव ओरिएंटल रिसर्च	मद्रास
जर्नल ऑव द बांबे ब्रांच ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी	बंबई
जर्नल ऑव द बांबे युनिवर्सिटी	बंबई
जर्नल ऑव द बिहार रिसर्च सोसायटी	पटना
जर्नल (क्वार्टर्ली) ऑव द मीथिक सोसायटी	बंगलोर
जर्नल ऑव दि आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी	राजमहेंद्री
जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी	कलकत्ता
जर्नल ऑव दि ओरियंटल इंस्टिट्यूट	बड़ोदा
थियासाफिस्ट	काशी
दी जैन ऐंटिक्वेरी	आरा
बुलेटिन ऑव द डेकन कालेज रिसर्च इंस्टिट्यूट	पूना
बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरिएंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज़	लंदन
ब्रह्मविद्या	अद्यार, मद्रास
वाक्	पूना
विश्वभारती क्वार्टर्ली	बोलपुर (पश्चिम बंगाल)
सेल्फ रिअलिजेशन मैगजीन	कैलिफोर्निया (सं० रा० अमेरिका)
हार्वर्ड जर्नल ऑव एशियाटिक स्टडीज	कैंब्रिज (मसाचुसेट्स)

अन्य

केसरी (मराठी)	पूना
बुद्धिप्रकाश (गुजराती)	अहमदाबाद
भारत इतिहास संशोधक मंडल पत्रिका (मराठी)	पूना
विश्वभारती (बँगला)	कलकत्ता

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५८, सं० २०१०

संपादक

हजारीप्रसाद द्विवेदी : कृष्णानंद

सहायक संपादक

पुरुषोत्तम

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण एवं सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना साधारणतः एक मास के भीतर दी जाती है।

(४) लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग वा उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

(५) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। सभी प्राप्त पुस्तकों की प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है, परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

वार्षिक मूल्य १०) : इस अंक का २॥)

मुद्रक—महताब राय, नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रणालय, काशी।

वार्षिक विषय-सूची

सभा के नवीन प्रकाशन

भागवत संप्रदाय

ले० श्री बलदेव उपाध्याय, एम० ए०

भारतीय साहित्य और संस्कृति को भागवत अथवा वैष्णव धर्म की महत्त्व-पूर्ण देन सर्वविदित है। परंतु इसके मूल तथा इसके भिन्न-भिन्न संप्रदायों के विकास और इतिहास को बतानेवाला कोई खोजपूर्ण ग्रंथ हिंदी में अभी तक नहीं है। इस ग्रंथ में विद्वान् लेखक ने बड़े परिश्रम से सामग्री एकत्र कर वैष्णव धर्म का उद्गम, विकास और प्रसार तथा भिन्न-भिन्न वैष्णव संप्रदायों के मतों की समीक्षा प्रस्तुत की है। पृष्ठ सं० ७००, सजिल्द, मूल्य ६)

भारतेंदु ग्रंथावली, भाग ३

संपादक श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०

भारतेंदु-ग्रंथावली के प्रथम भाग में भारतेंदु जी के नाटकों, द्वितीय में कवि-ताओं और इस तृतीय भाग में उनकी समस्त गद्य रचनाओं का संकलन है। इस भाग के प्रकाशन से अब भारतेंदु जी का संपूर्ण साहित्य अध्येताओं के लिये प्रस्तुत हो गया है। मूल्य ९)

आदर्श और यथार्थ

ले० श्री पुरुषोत्तमलाल, एम० ए०

इस पुस्तक में आदर्शवाद और यथार्थवाद का विस्तृत विवेचन करके काव्य में इनका उचित समन्वय दिखाया गया है और प्रसंगतः काव्य के स्वरूप तथा रस, अलंकार, भाव आदि विषयों पर विचार किया गया है। आरंभ में स्व० आचार्य केशवप्रसाद मिश्र की विद्वत्तापूर्ण भूमिका है तथा अंत में दो उपयोगी परिशिष्ट हैं। पृ० सं० १७८; सजिल्द, मूल्य २॥)

नंददास ग्रंथावली

संपादक श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०

अष्टछाप के कवियों में नंददास जी का स्थान बहुत ऊँचा है। इस संग्रह में उनके समस्त उपलब्ध ग्रंथों का प्रामाणिक पाठ आवश्यक पादटिप्पणियों सहित दिया गया है। प्रारंभ में विस्तृत भूमिका और कवि की प्रामाणिक जीवनी भी दी गई है। मूल्य ५)

औद्योगिक ईंधन

ले० डा० दयास्वरूप, प्रभूलाल अग्रवाल, हीरालाल गुप्त

हिंदी में ईंधन-विज्ञान पर यह प्रथम पुस्तक है। उद्योग-धंधों की प्रगति के साथ-साथ औद्योगिक ईंधन के बढ़ते हुए महत्त्व को देखते हुए इस विज्ञान का महत्त्व स्वयं स्पष्ट है। इस पुस्तक में औद्योगिक ईंधन से संबंधित प्रायः समस्त बातों का संक्षेप में समावेश किया गया है। ईंधन-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिये पुस्तक बहुत उपयोगी है। साथ ही सामान्य पाठकों के लिये भी ज्ञानप्रद है। ८४ चित्र भी दिए गए हैं। पृ० सं० ३५०; मू० ८)

धातु-विज्ञान

ले० डा० दयास्वरूप

यह पुस्तक मुख्यतः धातु-विज्ञान के आरंभिक विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की गई है। इसमें लोहा और इस्पात, ताँबा, एल्यूमोनियम, सीसा, जस्ता, राँगा, गिलट, सोना, चाँदी, मैंगनीज, क्रोमियम और टंग्स्टन—इतनी धातुओं का वर्णन किया गया है। धातुओं के वर्णन के साथ उनके उत्पत्ति-स्थान, शोधन-प्रक्रिया तथा उपयोग आदि सरल भाषा में बतलाए गए हैं। धातु-शोधन के यंत्रादि का सचित्र वर्णन करते हुए धातु के कारखानों और उनकी कार्य-पद्धति का भी पता दिया गया है। हिंदी में यह अपने विषय की सर्वप्रथम प्रामाणिक रचना है। पृ० सं० ३०८ से ऊपर; मू० ६)

हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के त्रैवार्षिक खोज-विवरण

उत्तरप्रदेशीय सरकार की सहायता से सभा द्वारा जो हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का कार्य होता है उसके सन् १९०० से १९२५ तक के विवरण उक्त सरकार द्वारा अंग्रेजी में छापे गए। १९२६ से ४९ तक के विवरण अबतक अमुद्रित पड़े थे। अब सरकार की सहायता एवं अनुमति से सभा ने उन्हें गत वर्ष से हिंदी में छापना आरंभ किया है। निम्नलिखित विवरण छपकर तैयार हो चुके हैं—

(१) सन् १९२६-२८; संपादक डा० हीरालाल; रायल अठपेजी पृष्ठ सं० ८४८; सजिल्द; मू० २१)

(२) सन् १९२९-३१; संपा० डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल; रा० अठ० पृष्ठ सं० ७०६; सजिल्द, मू० १५)

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक—महताब राय, नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रणालय, काशी।